अनासक्ति योग
कर्म किए बिना किसी को सिद्धि नहीं मिली. जो कर्म आसक्ति बिना नहीं हो सकते हों, वे सब त्याज्य हैं.

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

9/3/22.

श्रीमद्भगवद्गीता, अनुवाद सहित

मो० क० गांधी

१९८०
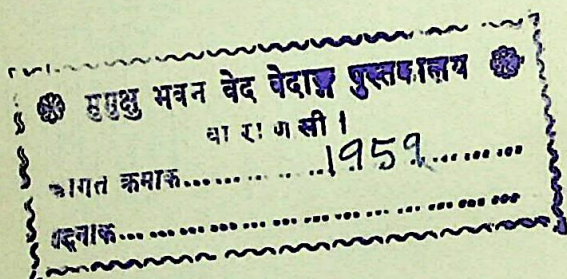
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

नवीं बार : १९८०

मूल्य
पांच रुपये

मुद्रक
लखेरवाल प्रेस
नई दिल्ली

प्रकाशकीय

महात्मा गांधी के जीवन पर गीता का गहरा प्रभाव पड़ा था। उससे उन्होंने ज्ञान एवं भक्ति की प्रेरणा पाई; लेकिन उनसे भी अधिक उन्हें निष्काम कर्म की महिमा का पता चला। अपने जीवन में वह बार-बार इस बात पर जोर देते रहे कि कर्म करो, पर उसके फल की इच्छा रखकर नहीं। वह लिखते हैं, "परिणाम की चिन्ता करनेवाले की स्थिति विपयांध की-सी हो जाती है और अंत में वह विषयी की भांति सारासार का, नीति-अनीति का, विवेक छोड़ देता है और फल प्राप्त करने के लिए हर किसी साधन से काम लेता है और उसे धर्म मानता है।"

गांधीजी की दृष्टि में गीता का मुख्य उद्देश्य अनासक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना है, इसलिए उन्होंने इस पुस्तक का नामकरण 'अनासक्ति योग' किया।

गांधीजी के लिए गीता मां के समान थी। वह चाहते थे कि उससे सभी लोग लाभ उठावें। अतः उन्होंने सम्पूर्ण गीता का सार 'गीता बोध' के नाम से तैयार किया। इतना ही नहीं, उन्होंने गीता के श्लोकों का बड़ी ही सरल-सुबोध भाषा में अनुवाद किया। प्रस्तुत पुस्तक में मूल श्लोकों के साथ वही अनुवाद दिया गया है। विषय की स्पष्टता तथा पाठकों की सुविधा के लिए यत्र-तत्र गांधीजी ने अपनी टिप्पणियां भी दी हैं।

निस्संदेह यह पुस्तक प्रेरणा का अक्षय स्रोत है। ज्ञान, भक्ति और उनसे भी बढ़कर निष्काम कर्म के इस महासागर में जो जितनी गहरी डुबकी लगायेगा, उतने ही मूल्यवान रत्न उसके हाथ पड़ेंगे।

सच यह है कि ऐसी पुस्तकें एक बार नहीं, बार-बार पढ़ने की होती हैं।

उनमें से नित नये-नये अर्थ निकलते हैं, नई-नई प्रेरणाएं मिलती हैं।

यह पुस्तक बहुत दिनों से अप्राप्य थी और इसके पुनर्मुद्रण के लिए पाठक निरंतर आग्रह कर रहे थे। हमें हर्ष है कि पुस्तक पाठकों को सुलभ हो रही है। श्री भगवती प्रसाद बाजोरिया के सौजन्य से पुस्तक के कागज के मूल्य की सुविधा हो गई है। इसी कारण इसका मूल्य इतना कम रखना संभव हो सका है। हम श्री बाजोरिया के आभारी हैं।

हमें पूर्ण विश्वास है कि पाठक इस पुस्तक से पूरा लाभ उठावेंगे।

—मंत्री

प्रस्तावना

: १ :

जैसे स्वामी आनंद आदि मित्रों के प्रेम के वश होकर मैंने सत्य के प्रयोगों के लिए आत्मकथा का लिखना आरंभ किया था, वैसे गीता का अनुवाद भी। स्वामी आनंद ने असहयोग के जमाने में मुझसे कहा था, "आप गीता का अर्थ करते हैं, वह अर्थ तभी समझ में आ सकता है जब आप एक बार समूची गीता का अनुवाद कर जायं और उसके ऊपर जो टीका करनी हो, वह करें और हम वह संपूर्ण एक बार पढ़ जायं। फुटकर श्लोकों में से अहिंसादि का प्रतिपादन मुझे तो ठीक नहीं लगता है।" मुझे उनकी दलील में सार जान पड़ा। मैंने जवाब दिया, "अवकाश मिलने पर यह करूंगा।" फिर मैं जेल गया। वहां तो गीता का अध्ययन कुछ अधिक गहराई से करने का मौका मिला। लोकमान्य का ज्ञान का भंडार पढ़ा। उन्होंने ही पहले मुझे मराठी, हिंदी और गुजराती अनुवाद प्रेमपूर्वक भेजे थे और सिफारिश की थी कि मराठी न पढ़ सकूं तो गुजराती अवश्य पढ़ूं। जेल के बाहर तो उसे न पढ़ पाया, पर जेल में गुजराती अनुवाद पढ़ा। इसे पढ़ने के बाद गीता के संबंध में अधिक पढ़ने की इच्छा हुई और गीता-संबंधी अनेक ग्रंथ उलटे-पलटे।

मुझे गीता का प्रथम परिचय एडविन आर्नाल्ड के पद्य-अनुवाद से सन् १८८८-८९ में प्राप्त हुआ। उससे गीता का गुजराती अनुवाद पढ़ने की तीव्र इच्छा हुई और जितने अनुवाद हाथ लगे, उन्हें पढ़ गया; परंतु ऐसी पढ़ाई मुझे अपना अनुवाद जनता के सामने रखने का बिलकुल अधिकार नहीं देती। इसके सिवा मेरा संस्कृत-ज्ञान अल्प है, गुजराती का ज्ञान विद्वत्ता के विचार से कुछ नहीं है। तब मैंने अनुवाद करने की धृष्टता क्यों की ?

गीता को मैंने जिस प्रकार समझा है उस प्रकार का आचरण करने का मेरा और मेरे साथ रहनेवाले कई साथियों का बराबर प्रयत्न है। गीता हमारे लिए आध्यात्मिक ग्रंथ है। उसके अनुसार आचरण में निष्फलता रोज आती है, पर वह निष्फलता हमारा प्रयत्न रहते हुए है। इस निष्फलता में सफलता की फूटती हुई किरणों की झलक दिखाई देती है। यह नन्हा-सा जन-समुदाय जिस अर्थ को आचार में परिणत करने का प्रयत्न करता है, वह इस अनुवाद में है।

इसके सिवा स्त्रियां, वैश्य और शूद्र-सरीखे, जिन्हें अक्षरज्ञान थोड़ा ही है, जिन्हें मूल संस्कृत में गीता समझने का समय नहीं है, इच्छा नहीं है, परंतु जिन्हें गीता रूपी सहारे की आवश्यकता है, उन्हीं के लिए इस अनुवाद की कल्पना है।[1] गुजराती भाषा का मेरा ज्ञान कम होने पर भी उसके द्वारा गुजरातियों को, मेरे पास जो कुछ पूंजी हो वह, दे जाने की मुझे सदा भारी अभिलाषा रही है। मैं यह चाहता हूं अवश्य कि आज गंदे साहित्य का जो प्रवाह जोरों से जारी है, उस समय में हिंदू-धर्म में अद्वितीय माने जानेवाले इस ग्रंथ का सरल अनुवाद गुजराती जनता को मिले और उसमें से वह उस प्रवाह का सामना करने की शक्ति प्राप्त करे।

इस अभिलाषा में दूसरे गुजराती अनुवादों की अवहेलना नहीं है। उन सबका स्थान भले ही हो; पर उनके पीछे उनके अनुवादकों का आचार-रूपी अनुभव का दावा हो, ऐसा मेरी जानकारी में नहीं है। इस अनुवाद के पीछे अड़तीस वर्ष के आचार के प्रयत्न का दावा है। इसलिए मैं यह अवश्य चाहता हूं कि प्रत्येक गुजराती भाई और बहन, जिन्हें धर्म को आचरण में लाने की इच्छा है, इसे पढ़ें, विचारें और इसमें से शक्ति प्राप्त करें।

इस अनुवाद में मेरे साथियों की मेहनत मौजूद है। मेरा संस्कृत-ज्ञान बहुत अधूरा होने के कारण शब्दार्थ पर मुझे पूरा विश्वास नहीं हो सकता था, अतः इतने भर के लिए इस अनुवाद को विनोबा, काका कालेलकर, महादेव देसाई और किशोरलाल मशरूवाला ने देख लिया है।

---

१. गांधीजी का अनुवाद गुजराती में है। यह उसीका हिंदी-रूपांतर है।

: २ :

अब गीता के अर्थ पर आता हूं।

सन् १८८८-८९ में जब गीता का प्रथम दर्शन हुआ तभी मुझे ऐसा लगा कि यह ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं है, वरन् इसमें भौतिक युद्ध के वर्णन के बहाने प्रत्येक मनुष्य के हृदय के भीतर निरंतर होते रहनेवाले द्वंद्व-युद्ध का ही वर्णन है। मानुषी योद्धाओं की रचना हृदयगत युद्ध को रोचक बनाने के लिए गढ़ी हुई कल्पना है। यह प्राथमिक स्फुरण धर्म का और गीता का विशेष विचार करने के बाद पक्की हो गई। महाभारत पढ़ने के बाद यह विचार और भी दृढ़ हो गया। महाभारत-ग्रंथ को मैं आधुनिक अर्थ में इतिहास नहीं मानता। इसके प्रबल प्रमाण आदि पर्व में ही हैं। पात्रों की अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्ति का वर्णन करके व्यास भगवान ने राजा-प्रजा के इतिहास को मिटा दिया है। उसमें वर्णित पात्र मूल में ऐतिहासिक भले ही हों, परंतु महाभारत में तो उनका उपयोग व्यास भगवान ने केवल धर्म का दर्शन कराने के लिए ही किया है।

महाभारतकार ने भौतिक युद्ध की आवश्यकता नहीं, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेता ने रुदन कराया है, पश्चात्ताप कराया है और दुःख के सिवा और कुछ नहीं रहने दिया।

इस महाग्रंथ में गीता शिरोमणि रूप से विराजती है। उसका दूसरा अध्याय भौतिक युद्ध-व्यवहार सिखाने के बदले स्थितप्रज्ञ के लक्षण सिखाता है। स्थितप्रज्ञ का ऐहिक युद्ध के साथ कोई संबंध नहीं होता, यह बात उसके लक्षणों में से ही मुझे प्रतीत हुई है। साधारण पारिवारिक झगड़ों के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करने के लिए गीता-जैसी पुस्तक की रचना संभव नहीं है।

गीता के कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध संपूर्ण ज्ञान है! परंतु काल्पनिक हैं। यहाँ कृष्ण नाम के अवतारी पुरुष का निषेध नहीं है। केवल संपूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं, संपूर्णावतार का आरोपण पीछे से हुआ है।

अवतार से तात्पर्य है शरीरधारी पुरुष विशेष। जीवमात्र ईश्वर के अवतार हैं, परंतु लौकिक भाषा में सबको हम अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान् है, उसे भावी प्रजा अवताररूप से पूजती

है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता। इसमें न तो ईश्वर के बड़प्पन में कमी आती है, न उसमें सत्य को आघात पहुंचता है। "आदम खुदा नहीं; लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।" जिसमें धर्म-जागृति अपने युग में सबसे अधिक है वह विशेषावतार है। इस विचार-श्रेणी से कृष्णरूपी संपूर्णावतार आज हिंदू-धर्म में साम्राज्य भोग रहा है।

यह दृश्य मनुष्य की अंतिम सदभिलाषा का सूचक है। मनुष्य को ईश्वर-रूप हुए बिना चैन नहीं पड़ता, शांति नहीं मिलती। ईश्वररूप होने के प्रयत्न का नाम सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और यही आत्मदर्शन है। यह आत्मदर्शन सब धर्म-ग्रंथों का विषय है, वैसे ही गीता का भी है। पर गीताकार ने इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए गीता नहीं रची, वरन् आत्मार्थी को आत्मदर्शन का एक अद्वितीय उपाय बतलाना गीता का आशय है। जो चीज हिंदू धर्म-ग्रंथों में छिट-पुट दिखाई देती है, उसे गीता ने अनेक रूपों में, अनेक शब्दों में, पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी, अच्छी तरह स्थापित किया है।

वह अद्वितीय उपाय है 'कर्मफलत्याग।'

इस मध्यबिंदु के चारों ओर गीता की सारी सजावट है। भक्ति, ज्ञान इत्यादि इसके आसपास तारा-मंडल-रूप में सज गये हैं। जहां देह है, वहां कर्म तो है ही। उसमें से कोई मुक्त नहीं है, तथापि देह को प्रभु का मंदिर बनाकर उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, यह सब धर्मों ने प्रतिपादन किया है; परंतु कर्ममात्र में कुछ दोष तो हैं ही, मुक्ति तो निर्दोष की ही होती है। तब कर्मबंधन में से अर्थात दोष-स्पर्श में से कैसे छुटकारा हो? इसका जवाब गीताजी ने निश्चयात्मक शब्दों में दिया है—"निष्काम कर्म से, यज्ञार्थ कर्म करके, कर्मफल त्याग करके, सब कर्मों को कृष्णार्पण करके, अर्थात् मन, वचन और काया को ईश्वर में होम करके।"

पर निष्कामता, कर्मफल-त्याग कहनेभर से नहीं हो जाता। यह केवल बुद्धि का प्रयोग नहीं है। यह हृदय-मंथन से ही उत्पन्न होता है। यह त्याग-शक्ति पैदा करने के लिए ज्ञान चाहिए। एक प्रकार का ज्ञान तो बहुतेरे पंडित पाते हैं। वेदादि उन्हें कंठ होते हैं; परंतु उनमें से अधिकांश भोगादि में लगे-लिपटे रहते हैं। ज्ञान का अतिरेक शुष्क पांडित्य के रूप में न हो

जाय, इस खयाल के गीताकार ने ज्ञान के साथ भक्ति को मिलाया और उसे प्रथम स्थान दिया। बिना भक्ति का ज्ञान हानिकर है। इसलिए कहा गया, "भक्ति करो तो ज्ञान मिल ही जायगा।" पर भक्ति तो 'सिर का सौदा' है, इसलिए गीताकार ने भक्ति के लक्षण स्थितप्रज्ञ के-से बतलाये हैं।

तात्पर्य, गीता की भक्ति बाह्याचारिता नहीं है, अंधश्रद्धा नहीं है। गीता में बताये उपचार का बाह्य चेष्टा या क्रिया के साथ कम-से-कम संबंध है, माला, तिलक, अर्घ्यादि साधन भले ही भक्त बरते, पर वे भक्ति के लक्षण नहीं हैं। जो किसी का द्वेष नहीं करता, जो करुणा का भंडार है और ममता-रहित है, जो निरहंकार है, जिसे सुख-दुःख, शीत-उष्ण समान हैं, जो क्षमा-शील है, जो सदा संतोषी है, जिनके निश्चय कभी बदलते नहीं, जिसने मन और बुद्धि ईश्वर को अर्पण कर दिये हैं, जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगों का भय नहीं रखता, जो हर्ष-शोक-भयादि से मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होने पर भी तटस्थ है, जो शुभाशुभ का त्याग करने-वाला है, जो शत्रु-मित्र पर समभाव रखने-वाला है, जिसे मान-अपमान समान है, जिसे स्तुति से खुशी नहीं होती और निंदा से ग्लानि नहीं होती, जो मौनधारी है, जिसे एकांत प्रिय है, जो स्थिरबुद्धि है, वह भक्त है। यह भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुषों में संभव नहीं है।

इसमें से हम देखते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही आत्मदर्शन है। आत्मदर्शन उससे भिन्न वस्तु नहीं है। जैसे रुपये के बदले में जहर खरीदा जा सकता है और अमृत भी लाया जा सकता है, वैसे ज्ञान या भक्ति के बदले बंधन भी लाया जा सके और मोक्ष भी, यह सम्भव नहीं है। यहां तो साधन और साध्य, बिलकुल एक नहीं तो लगभग एक ही वस्तु हैं, साधन की पराकाष्ठा जो है, वही मोक्ष है और गीता के मोक्ष का अर्थ परम शांति है।

किन्तु ऐसे ज्ञान और भक्ति को कर्म-फल-त्याग की कसौटी पर चढ़ना ठहरा। लौकिक कल्पना में शुष्क पंडित भी ज्ञानी मान लिया जाता है। उसे कुछ काम करने को नहीं रहता। हाथ से लोटा तक उठाना भी उसके लिए कर्म-बंधन है। यज्ञशून्य जहां ज्ञानी गिना जाय वहां लोटा उठाने-जैसी तुच्छ लौकिक क्रिया को स्थान ही कैसे मिल सकता है ?

लौकिक कल्पना में भक्त से मतलब है बाह्याचारी[1], माला लेकर जप करने वाला। सेवा-कर्म करते भी उसकी माला में विक्षेप पड़ता है। इसलिए वह खाने-पीने आदि भोग-भोगने के समय ही माला को हाथ से छोड़ता है, चक्की चलाने या रोगी की सेवा-शुश्रूषा करने के लिए कभी नहीं छोड़ता।

इन दोनों वर्गों को गीता ने साफतौर से कह दिया, "कर्म बिना किसी ने सिद्धि नहीं पाई। जनकादि भी कर्म द्वारा ज्ञानी हुये। यदि मैं भी आलस्य रहित होकर कर्म न करता रहूं तो इन लोकों का नाश हो जाय।" तो फिर लोगों के लिए पूछना ही क्या रह जाता है?

परन्तु एक ओर से कर्ममात्र बन्धनरूप हैं, यह निर्विवाद है। दूसरी ओर से देही इच्छा-अनिच्छा से भी कर्म करता रहता है। शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टाएं कर्म हैं। तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बंधनमुक्त कैसे रहे? जहां तक मुझे मालूम है, इस समस्या को गीता ने जिस तरह हल किया है, वैसे दूसरे किसी भी धर्म-ग्रंथ ने नहीं किया है। गीता का कहना है, "फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो", "आशारहित होकर कर्म करो", "निष्काम होकर कर्म करो।" यह गीता की वह ध्वनि है, जो भुलाई नहीं जा सकती। जो कर्म छोड़ता है, वह गिरता। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता है, वह चढ़ता है। फल-त्याग का यह अर्थ नहीं है कि परिणाम के सम्बन्ध में लापरवाही रहे। परिणाम और साधन का विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है। इतना होने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना साधन में तन्मय रहता है, वह फलत्यागी है।

पर यहां फलत्याग का कोई यह अर्थ न करे कि त्यागी को फल मिलता नहीं। गीता में ऐसे अर्थ को कहीं स्थान नहीं है। फलत्याग से मतलब है फल के सम्बन्ध में आसक्ति का अभाव। वास्तव में देखा जाय तो फलत्यागी को तो हजारगुना फल मिलता है। गीता के फलत्याग में तो अपरिमित श्रद्धा की परीक्षा है। जो मनुष्य परिणाम का ध्यान करता रहता है, वह

---

१. जो बाह्याचार में लीन रहता है और मूढ भाव से मानता है कि यही भक्ति है।

बहुत बार कर्म—कर्तव्यभ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता घेरती है, इससे वह क्रोध के वश हो जाता है और फिर वह न करने योग्य करने लग पड़ता है, एक कर्म में से दूसरे में और दूसरे में से तीसरे में पड़ता जाता है। परिणाम की चिंता करने वाले की स्थिति विषयांध की-सी हो जाती है। और अन्त में वह विषयी की भांति सारासार का, नीति-अनीति का विवेक छोड़ देता है, और फल प्राप्त करने के लिए हर किसी साधन से काम लेता है और उसे धर्म मानता है।

फलासक्ति के ऐसे कटु परिणामों में से गीताकार ने अनासक्ति का अर्थात् कर्मफलत्याग का सिद्धांत निकाला और संसार के सामने अत्यन्त आकर्षक भाषा में रखा। साधारणत: तो यह माना जाता हैं कि धर्म और अर्थ विरोधी वस्तु हैं, "व्यापार इत्यादि लौकिक व्यवहार में धर्म नहीं बचाया जा सकता, धर्म को जगह नहीं हो सकती, धर्म का उपयोग केवल मोक्ष के लिए किया जा सकता है। धर्म की जगह धर्म शोभा देता है और अर्थ की जगह अर्थ।" बहुतों से ऐसा कहते हम सुनते हैं। गीतकार ने इस भ्रम को दूर किया है। उसने मोक्ष और व्यवहार के बीच ऐसा भेद नहीं रखा है, वरन् व्यवहार में धर्म को उतारा है। जो धर्म व्यवहार में न लाया जा सके, वह धर्म नहीं है, मेरी समझ से यह बात गीता में हैं। मतलब, गीता के मतानुसार जो कर्म ऐसे हैं कि आसक्ति के बिना हो ही न सकें, वे सभी त्याज्य हैं। ऐसा सुवर्ण नियम मनुष्य को अनेक धर्म-संकटों से बचाता है। इस मत के अनुसार खून, झूठ, व्यभिचार इत्यादि कर्म अपने-आप त्याज्य हो जाते हैं। मानव-जीवन सरल बन जाता हैं और सरलता में से शांति उत्पन्न होती है।

इस विचार-श्रेणी के अनुसार मुझे ऐसा जान पड़ा है कि गीता की शिक्षा को व्यवहार में लानेवाले को अपने-आप सत्य और अहिंसा का पालन करना पड़ता हैं। फलासक्ति के बिना न तो मनुष्य को असत्य बोलने का लालच होता है, न हिंसा करने का। चाहे जिस हिंसा या असत्य के कार्य को हम लें, यह मालूम हो जायगा कि उसके पीछे परिणाम की इच्छा रहती है। गीता-काल के पहले भी अहिंसा परम धर्म रूप मानी जाती थी, पर गीता को तो अनासक्ति के सिद्धांत का प्रतिपादन करना था। दूसरे

अध्याय में ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

परंतु यदि गीता को अहिंसा मान्य थी, अथवा अनासक्ति में अहिंसा अपने-आप आ ही जाती है, तो गीताकार ने भौतिक युद्ध को उदाहरण के रूप में भी क्यों लिया? गीता-युग में अहिंसा धर्म मानी जाने पर भी भौतिक युद्ध सर्वमान्य वस्तु होने के कारण गीताकार को ऐसे युद्ध का उदाहरण लेते संकोच नहीं हुआ और न होना चाहिए था।

परन्तु फलत्याग के महत्व का अंदाजा करते हुए गीताकार के मन में क्या विचार थे, उसने अहिंसा की मर्यादा कहां निश्चित की थी, इस पर हमें विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती। कवि महत्व के सिद्धान्तों को संसार के सम्मुख उपस्थित करता है, इसके यह मानी नहीं होते कि वह सदा अपने उपस्थित किये हुए सिद्धान्तों को महत्त्वपूर्ण रूप से पहचानता है या पहचानने के बाद समूचे को भाषा में रख सकता है। इसमें काव्य की और कवि की महिमा है। कवि के अर्थ का अंत ही नहीं है। जैसे मनुष्य का, उसी प्रकार महावाक्यों के अर्थ का विकास होता ही रहता है। भाषाओं के इतिहास से हमें मालूम होता है कि अनेक महान् शब्दों के अर्थ नित्य-नये होते रहे हैं। यही बात गीता के अर्थ के संबंध में भी है। गीताकार ने स्वयं महान् रूढ़ शब्दों के अर्थ का विस्तार किया है। गीता को ऊपरी दृष्टि से देखने पर भी यह बात मालूम हो जाती है। गीता-युग के पहले कदाचित यज्ञ में पशु-हिंसा मान्य रही हो। गीता के यज्ञ में उसकी कहीं गन्ध तक नहीं है। उसमें तो जपयज्ञ यज्ञों का राजा है। तीसरा अध्याय बतलाता है कि यज्ञ का अर्थ है मुख्य रूप से परोपकार के लिए शरीर का उपयोग। तीसरा और चौथा अध्याय मिलाकर दूसरी व्याख्याएं भी निकाली जा सकती हैं, पर पशु-हिंसा नहीं निकाली जा सकती। वही बात गीता के संन्यास के अर्थ के संबंध में है। कर्ममात्र का त्याग गीता के संन्यास को भाता ही नहीं। गीता का संन्यासी अतिकर्मी है, तथापि अति-अकर्मी है। इस प्रकार गीताकार ने तो महान् शब्दों का व्यापक अर्थ करके अपनी भाषा का भी व्यापक अर्थ करना हमें सिखाया है। गीताकार की भाषा के अक्षरों से यह बात भले ही निकलती हो कि सम्पूर्ण कर्मफलत्यागी द्वारा भौतिक युद्ध हो सकता है, परन्तु गीता की शिक्षा को पूर्ण रूप से अमल में लाने का

४० वर्ष तक सतत प्रयत्न करने पर मुझे तो नम्रतापूर्वक ऐसा जान पड़ा है कि सत्य और अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन किये बिना सम्पूर्ण कर्मफल-त्याग मनुष्य के लिए असम्भव है ।

गीता सूत्रग्रंथ नहीं है। गीता एक महान् धर्म-काव्य है। उसमें जितना गहरे उतरिये, उतने ही उसमें से नये और सुन्दर अर्थ लीजिये। गीता जन-समाज के लिए है, उसमें एक ही बात को अनेक प्रकार से कहा है। अत: गीता में आये हुए महाशब्दों का अर्थ युग-युग में बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीता का मूल मंत्र कभी नहीं बदल सकता। वह मंत्र जिस रीति से सिद्ध किया जा सके, उस रीति से जिज्ञासु चाहे जो अर्थ कर सकता है।

गीता विधि-निषेध बतलानेवाली भी नहीं है। एक के लिए जो विहित होता है, वही दूसरे के लिए निषिद्ध हो सकता है। एक काल या एक देश में जो विहित होता है, वह दूसरे काल में, दूसरे देश में निषिद्ध हो सकता है। निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति।

गीता में ज्ञान की महिमा सुरक्षित है, तथापि गीता बुद्धिगम्य नहीं है, वह हृदयगम्य है। अत: वह अश्रद्धालु के लिए नहीं है। गीताकार ने ही कहा है :

"जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह ज्ञान तू कभी न कहना।" १८।६७

"परंतु यह परमगुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तों को देगा, वह मेरी परम भक्ति करने के कारण निःसंदेह मुझे ही पावेगा।" १८।६८

"और जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा, वह भी मुक्त होकर पुण्यवान जहां बसते हैं, उस शुभ लोक को पावेगा।" १८।७१

(कौसानी, हिमालय)
सोमवार
आषाढ़ कृष्ण, २, १९८६
२४-६-२९

अनुक्रम

अनासक्तियोग

: १ :

अर्जुनविषादयोग

जिज्ञासा बिना ज्ञान नहीं होता। दुःख बिना सुख नहीं होता। धर्मसंकट—हृदयमंथन सब जिज्ञासुओं को एक बार होता ही है।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले—

हे संजय ! मुझे बतलाओ कि धर्मक्षेत्ररूपी कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पांडु के पुत्रों ने क्या किया ? १

टिप्पणी—यह शरीररूपी क्षेत्र धर्मक्षेत्र है, क्योंकि यह मोक्ष का द्वार हो सकता है। पाप से इसकी उत्पत्ति है और पाप का यह भाजन बना रहता है, इसलिए यह कुरुक्षेत्र है।

कौरव अर्थात् आसुरी वृत्तियां। पांडुपुत्र अर्थात् दैवी वृत्तियां। प्रत्येक शरीर में भली और बुरी वृत्तियों में युद्ध चलता ही रहता है, यह कौन नहीं अनुभव करता ?

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

संजय ने कहा—

उस समय पांडवों की सेना सजी देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोण के पास जाकर बोले— २

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य ! अपने बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा सजाई हुई पांडवों की इस बड़ी सेना को देखिए। ३

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

यहां भीम, अर्जुन-जैसे लड़ने में शूरवीर धनुर्धर, युयुधान (सात्यकि), विराट और महारथी द्रुपदराज, ४

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥५॥

धृष्टकेतु, चेकितान, शूरवीर काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, ५

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्यु, बलवान उत्तमौजा, सुभद्रा-पुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदी के पुत्र, ये सभी महारथी हैं। ६

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! अब हमारी ओर के जो मुख्य योद्धा हैं, उन्हें आप जान लीजिए। अपनी सेना के नायकों के नाम मैं आपके ध्यान में लाने के लिए कहता हूं। ७

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

एक तो आप, भीष्म, कर्ण, युद्ध में जयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा, ८

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

दूसरे भी बहुतेरे नाना प्रकार के शस्त्रों से युद्ध करनेवाले शूरवीर हैं, जो मेरे लिए प्राण देनेवाले हैं। वे सब युद्ध में

कुशल हैं। ९

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना का बल अपूर्ण है, पर भीम द्वारा रक्षित उनकी सेना पूर्ण है। १०

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

इसलिए आप सब अपने-अपने स्थान से सब मार्गों से भीष्म-पितामह की रक्षा अच्छी तरह करें। ११
(इस प्रकार दुर्योधन ने कहा)

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

तब उसे आनंदित करते हुए कुरु-वृद्ध प्रतापी पितामह ने उच्च स्वर से सिंहनाद करके शंख बजाया। १२

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

फिर तो शंख, नगारे, ढोल, मृदंग और रणसिंगे एक साथ ही बज उठे। यह नाद भयंकर था। १३

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इतने में सफेद घोड़ोंवाले बड़े रथ पर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने दिव्य शंख बजाये। १४

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्ण ने पांचजन्य शंख बजाया। धनंजय अर्जुन ने देवदत्त शंख बजाया। भयंकर कर्मवाले भीम ने पौंड्र नामक महाशंख बजाया। १५

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनंतविजय नामक शंख बजाया और नकुल ने सुघोष तथा सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंख बजाया ।　　१६

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

बड़े धनुष्यवाले काशिराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, विराटराज, अजेय सात्यकि,　　१७

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

द्रुपदराज, द्रौपदी के पुत्र, सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु, इन सबने, हे राजन् ! अपने-अपने शंख बजाए ।　　१८

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

पृथ्वी और आकाश को गुंजा देनेवाले उस भयंकर नाद ने कौरवों के हृदय विदीर्ण कर डाले ।　　१९

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

हे राजन् ! हनुमान चिह्न की ध्वजावाले अर्जुन ने कौरवों को सजे देखकर, हथियार चलाने की तैयारी के समय अपना धनुष चढ़ाकर हृषीकेश से ये वचन कहे—　　२०-२१

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

अर्जुन बोले—

"हे अच्युत ! मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा रखो,　　२१

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

जिससे युद्ध की कामना से खड़े हुए लोगों को मैं देखूं और

जानूं कि इस रणसंग्राम में मुझे किसके साथ लड़ना है। २२

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में प्रिय करने की इच्छावाले जो योद्धा इकट्ठे हुए हैं, उन्हें मैं देखूं तो सही।" २३

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

संजय ने कहा—

हे राजन् ! जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से यों कहा तब उन्होंने दोनों सेनाओं के बीच में सब राजाओं और भीष्म-द्रोण के सम्मुख उत्तम रथ खड़ा करके कहा—"हे पार्थ ! इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख।" २४-२५

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

वहां दोनों सेनाओं में विद्यमान बड़े-बूढ़े, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, ससुर और स्नेहियों को अर्जुन ने देखा। इन सब बांधवों को यों खड़ा देखकर, खेद उत्पन्न होने के कारण दीन बने हुए, कुंतीपुत्र इस प्रकार बोले— २६-२७

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! युद्ध के लिए उत्सुक होकर इकट्ठे हुए इन स्वजन स्नेहियों को देखकर मेरे गात्र शिथिल होते जा रहे हैं, मुंह सूख रहा है, शरीर कांप रहा है और रोएं खड़े हो रहे हैं। २८-२९

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

हाथ से गांडीव सरक रहा है, त्वचा बहुत जलती है। मुझसे खड़ा नहीं रहा जाता, क्योंकि मेरा दिमाग चक्कर-सा खा रहा है ? ३०

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

इसके सिवा हे केशव ! मैं तो विपरीत लक्षण देख रहा हूं। युद्ध में स्वजनों को मारकर कुछ श्रेय नहीं देखता। ३१

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

उन्हें मारकर न मैं विजय चाहता, न राज्य और सुख चाहता; हे गोविन्द ! मुझे राज्य का, भोग का या जीवन का क्या काम है ? ३२

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बंधिनस्तथा ॥३४॥

जिनके लिए राज्य, भोग और सुख की हमने चाहना की वे, ये आचार्य, काका, पुत्र, पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले और अन्य संबंधीजन जीवन और धन की आशा छोड़कर युद्ध के लिए खड़े हैं। ३३-३४

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

मुझे ये मार डालें अथवा मुझे तीनों लोक का राज्य मिले

तो भी, हे मधुसूदन ! मैं उन्हें मारना नहीं चाहता। तो फिर एक जमीन के टुकड़े के लिए कैसे मारूं ? ३५

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिस्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर मुझे क्या आनंद होगा ? इन आततायियों को भी मारकर हमें पाप ही लगेगा। ३६

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

इससे, हे माधव! यह उचित नहीं कि अपने ही बांधव धृतराष्ट्र के पुत्रों को हम मारें। स्वजन को ही मारकर कैसे सुखी हो सकते हैं ?" ३७

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

लोभ से जिनके चित्त मलिन हो गये हैं, वे कुलनाश से होने वाले दोष को और मित्र-द्रोह के पाप को भले ही न देख सकें, परंतु हे जनार्दन ! कुल नाश से होनेवाले दोष को समझनेवाले हम लोग इस पाप से क्यों न बचना जानें ? ३८-३९

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुल के नाश से सनातन कुलधर्मों का नाश होता है और धर्म का नाश होने से अधर्म समूचे कुल को डुबा देता है। ४०

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

हे कृष्ण ! अधर्म की वृद्धि होने से कुल-स्त्रियां दूषित होती हैं और उनके दूषित होने से वर्ण का संकर होता है। ४१

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

ऐसे संकर से कुल-घातक का और उसके कुल का नरकवास होता है और पिंडोदक की क्रिया से वंचित रहने के कारण उसके पितरों की अधोगति होती है। ४२

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

कुल घातक लोगों के इस वर्णसंकर को उत्पन्न करनेवाले दोषों से सनातन जाति, धर्म और कुल धर्मों का नाश होता है। ४३

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

हे जनार्दन ! कुल-धर्म का नाश हुए मनुष्य का अवश्य नरक में वास होता है, ऐसा हम लोग सुनते आये हैं। ४४

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

अहो, कैसे दुःख की बात है कि हम लोग महापाप करने को तुल गये हैं, अर्थात् राज्य-सुख के लोभ से स्वजन को मारने को तैयार हो गये हैं ! ४५

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

निःशस्त्र और सामना न करनेवाले मुझको यदि धृतराष्ट्र के शस्त्रधारी पुत्र रण में मार डालें तो वह मेरे लिए बहुत कल्याणकारक होगा। ४६

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

संजय ने कहा—

ऐसा कहकर रण में शोक से व्यग्रचित्त हुआ अर्जुन धनुष-

बाण डालकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया। ४७

ॐतत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन-संवाद का 'अर्जुनविषादयोग' नामक पहला अध्याय।

: २ :

सांख्ययोग

मोह के वश होकर मनुष्य अधर्म को धर्म मानता है। मोह के कारण अर्जुन ने अपना और पराया भेद किया, इस भेद को मिथ्या बतलाते हुए श्रीकृष्ण देह और आत्मा की भिन्नता, देह की अनित्यता और पृथक्ता तथा आत्मा की नित्यता और उसकी एकता बतलाते हैं। मनुष्य केवल पुरुषार्थ का अधिकारी है, परिणाम का नहीं। इसलिए उसे कर्तव्य का निश्चय करके निश्चिंत भाव से उसमें लगे रहना चाहिए। ऐसी परायणता से वह मोक्ष की प्राप्ति को पहुंच सकता है।

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजय ने कहा—

यों करुणा से दीन बने हुए और अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रोंवाले दुखी अर्जुन से मधुसूदन ने ये वचन कहे— १

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

श्रीभगवान बोले—

हे अर्जुन! श्रेष्ठ पुरुषों के अयोग्य, स्वर्ग से विमुख रखने-

वाला और अपयश देनेवाला यह मोह तुझे ऐसी विषम घड़ी में कहां से हो गया ? २

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

हे पार्थ ! तू नामर्द मत बन । यह तुझे शोभा नहीं देता । हृदय की पामर निर्बलता का त्याग करके, हे परंतप ! तू उठ । ३

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन ! भीष्म को और द्रोण को रणभूमि में बाणों से मैं कैसे मारूं ? हे अरिसूदन ! ये तो पूजनीय हैं । ४

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

महानुभाव गुरुजनों को मारने के बदले इस लोक में भिक्षान्न खाना भी अच्छा है; क्योंकि गुरुजनों को मारकर तो मुझे रक्त से सने हुए अर्थ और कामरूप भोग ही भोगने ठहरे । ५

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

मैं नहीं जानता कि दोनों में क्या अच्छा है, हम जीतें यह, या वे हमें जीतें यह ? जिन्हें मारकर मैं जीना नहीं चाहता, वे धृतराष्ट्र के पुत्र यह सामने खड़े हैं । ६

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।७।।

कायरता से मेरी (जातीय) वृत्ति मारी गई है। मैं कर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया हूं। इसलिए जिसमें मेरा हित हो, वह मुझसे निश्चयपूर्वक कहने की आपसे प्रार्थना करता हूं। मैं आपका शिष्य हूं। आपकी शरण में आया हूं। मुझे मार्ग बतलाइए। ७

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।।८।।

इस लोक में धनधान्यसंपन्न निष्कंटक राज्य मिले और इंद्रासन मिले तो उसमें भी इंद्रियों को चूस लेनेवाले मेरे शोक को दूर कर सकने-जैसा मैं कुछ नहीं देखता। ८

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।।९।।

संजय ने कहा—

हे राजन् ! गुडाकेश अर्जुन हृषीकेश गोविंद से ऐसा कह-कर, 'नहीं लड़ूंगा' कहते हुए चुप हो गए। ९

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।।१०।।

हे भारत ! इन दोनों सेनाओं के बीच में उदास होकर बैठे हुए अर्जुन से मुस्कराते हुए हृषीकेश ने ये वचन कहे— १०

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।।११।।

श्रीभगवान बोले—

तू शोक न करने योग्य का शोक करता है और पंडिताई के बोल बोलता है; परंतु पंडित मृत और जीवितों का शोक

नहीं करते। ११

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

क्योंकि वास्तव में देखने पर, मैं, तू या ये राजा किसी काल में नहीं थे अथवा भविष्य में नहीं होंगे, ऐसा कुछ नहीं है। १२

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

देहधारी को जैसे इस शरीर में कौमार, यौवन और जरा की प्राप्ति होती है, वैसे ही अन्य देह भी मिलती है। उसमें बुद्धिमान पुरुष को मोह नहीं होता। १३

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

हे कौंतेय ! इंद्रियों के स्पर्श सरदी, गरमी, सुख और दुःख देनेवाले होते हैं। वे अनित्य होते हैं, आते हैं और जाते हैं। उन्हें तू सह। १४

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! सुख-दुःख में सम रहनेवाले जिस बुद्धिमान पुरुष को ये विषय व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष के योग्य बनता है। १५

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

असत् का अस्तित्व नहीं है और सत् का नाश नहीं है। इन दोनों का निर्णय ज्ञानियों ने जाना है। १६

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

जिससे यह अखिल जगत व्याप्त है, उसे तू अविनाशी जान। इस अव्यय का नाश करने में कोई समर्थ नहीं है। १७

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

नित्य रहनेवाले, अपरिमित अविनाशी देही की ये देहें नाशवान कही गई हैं; इसलिए, हे भारत ! तू युद्ध कर। १८

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो इसे मारनेवाला मानता है और जो इसे मारा हुआ मानता है, वे दोनों कुछ जानते नहीं हैं। यह (आत्मा) न मारता है, न मारा जाता है। १९

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह कभी जन्मता नहीं है, मरता नहीं है। यह था और भविष्य में नहीं होगा, ऐसा भी नहीं है। इसलिए यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है, शरीर का नाश होने से इसका नाश नहीं होता। २०

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थं कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

हे पार्थं ! जो पुरुष आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय मानता है, वह किसे, कैसे मरवाता है या किसे मारता है ? २१

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए धारण करता है, वैसे देहधारी जीर्ण हुई देह को त्यागकर दूसरी नई देह पाता है। २२

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

इस (आत्मा) को शस्त्र छेदते नहीं, आग जलाती नहीं, पानी भिगोता नहीं, वायु सुखाता नहीं । २३

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

यह छेदा नहीं जा सकता है, जलाया नहीं जा सकता है, न भिगोया जा सकता है, न सुखाया जा सकता है। यह नित्य है, सर्वगत है, स्थिर है, अचल और सनातन है । २४

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

फिर, यह इंद्रिय और मन के लिए अगम्य है, विकाररहित कहा गया है, इसलिए इसे वैसा जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है । २५

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अथवा जो तू इसे नित्य जन्मने और मरनेवाला माने तो भी, हे महाबाहो ! तुझे शोक करना उचित नहीं है । २६

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जन्मे हुए के लिए मृत्यु और मरे हुए के लिए जन्म अनिवार्य है। अतः जो अनिवार्य है, उसका शोक करना उचित नहीं है । २७

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

हे भारत ! भूतमात्र की जन्म के पहले की और मृत्यु के पीछे की अवस्था देखी नहीं जा सकती, वह अव्यक्त है, बीच की ही स्थिति व्यक्त होती है। इसमें चिंता का क्या कारण है ? २८

टिप्पणी—भूत अर्थात् स्थावर-जंगम सृष्टि ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई इसे आश्चर्यसमान देखता है और कोई इसे आश्चर्य-समान वर्णन करता है और कोई इसे आश्चर्यसमान वर्णन किया हुआ सुनता है, परंतु सुनने पर भी कोई इसे जानता नहीं है। २९

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे भारत ! सबकी देह में विद्यमान यह देहधारी आत्मा नित्य अवध्य है, इसलिए भूतमात्र के विषय में तुझे शोक करना उचित नहीं है। ३०

टिप्पणी—यहां तक श्रीकृष्ण ने बुद्धि-प्रयोग से आत्मा का नित्यत्व और देह का अनित्यत्व समझाकर बतलाया कि यदि किसी स्थिति में देह का नाश करना उचित समझा जाय तो स्वजन-परिजन का भेद करके कौरव सगे हैं, इसलिए उन्हें कैसे मारा जाय, यह विचार मोहजन्य है। अब अर्जुन को बतलाते हैं कि क्षत्रिय-धर्म क्या है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

स्वधर्म को समझकर भी तुझे हिचकिचाना उचित नहीं, क्योंकि धर्मयुद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय के लिए और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता। ३१

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे पार्थ ! यों अपने-आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्ग का द्वार ही खुल गया हो, ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियों को ही मिलता है। ३२

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

यदि तू धर्म प्राप्त युद्ध नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा। ३३

अकीर्तिं चापि भूतानि
कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्ति-
र्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

सब लोग तेरी निंदा निरंतर किया करेंगे और सम्मानित पुरुष के लिए अपकीर्ति मरण से भी बुरी है। ३४

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

जिन महारथियों से तूने मान पाया है, वे तुझे भय के कारण रण से भागा मानेंगे और तुझे तुच्छ समझेंगे। ३५

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

और तेरे शत्रु तेरे बल की निंदा करते हुए बहुत-सी न कहने योग्य बातें कहेंगे, इससे अधिक दुखदायी और क्या हो सकता है? ३६

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

यदि तू मारा जायगा तो तुझे स्वर्ग मिलेगा। यदि तू जीतेगा तो पृथ्वी भोगेगा। अतः हे कौंतेय! लड़ने का निश्चय करके तू खड़ा हो। ३७

टिप्पणी—इस प्रकार भगवान ने आत्मा का नित्यत्व और देह का अनित्यत्व बतलाया। फिर यह भी बतलाया कि अनायास-प्राप्त युद्ध करने में क्षत्रिय को धर्म की बाधा नहीं होती। इस प्रकार ३१वें श्लोक से भगवान् ने परमार्थ के साथ उपयोग का मेल मिलाया है। इतना कहकर फिर भगवान् गीता के प्रधान

उपदेश का दिग्दर्शन एक श्लोक में कराते हैं।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजय को समान समझकर युद्ध के लिए तैयार हो। ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा। ३८

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

मैंने तुझे सांख्यसिद्धांत (तर्कवाद) के अनुसार तेरा यह कर्त्तव्य बतलाया।

अब योगवाद के अनुसार समझाता हूं सो सुन। इसका आश्रय लेने से तू कर्म-बंधन को तोड़ सकेगा। ३९

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

इसमें आरंभ का नाश नहीं होता, उलटा नतीजा नहीं निकलता। इस धर्म का थोड़ा-सा पालन भी महाभय से बचा लेता है। ४०

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनंदन! योगवादी की निश्चयात्मक बुद्धि एकरूप होती है, परंतु अनिश्चयवालों की बुद्धियां अनेक शाखाओंवाली और अनंत होती हैं। ४१

टिप्पणी—जब बुद्धि एक से मिटकर अनेक (बुद्धियां) होती है, तब वह बुद्धि न रहकर वासना का रूप धारण करती है। इसलिए बुद्धियों से तात्पर्य है वासनाएं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

अज्ञानी, वेदवादी, 'इसके सिवा और कुछ नहीं है' यह कहनेवाले, कामनावाले, स्वर्ग को श्रेष्ठ माननेवाले, जन्म-मरण-रूपी कर्म के फल देनेवाली, भोग और ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए किये जानेवाले कर्मों के वर्णन से भरी हुई बातें बढ़ा-बढ़ाकर कहते हैं। भोग और ऐश्वर्य में आसक्त रहनेवाले इन लोगों की बुद्धि मारी जाती है, इनकी बुद्धि न तो निश्चयवाली होती है और न वह समाधि में ही स्थिर हो सकती है। ४२-४३-४४

टिप्पणी—योगवाद के विरुद्ध कर्मकांड अथवा वेदवाद का वर्णन उपर्युक्त तीन श्लोकों में आया है। कर्मकांड या वेदवाद का मतलब फल उपजाने के लिए मंथन करनेवाली अगणित क्रियाएं। क्रियाएं वेद के रहस्य से, वेदांत से अलग और अल्प फलवाली होने के कारण निरर्थक हैं।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

हे अर्जुन ! जो तीन गुण वेद के विषय हैं, उनसे तू अलिप्त रह। सुख-दुःखादि द्वंद्वों से मुक्त हो। नित्य सत्य वस्तु में स्थिर रह। किसी वस्तु को पाने और संभालने के झंझट से मुक्त रह। आत्मपरायण हो। ४५

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

जैसे जो काम कुएं से निकलते हैं, वे सब, सब प्रकार से सरोवर से निकलते हैं, वैसे जो सब वेदों में है वह ज्ञानवान् ब्रह्मपरायण को आत्मानुभवों में से मिल रहता है। ४६

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

कर्म में ही तुझे अधिकार है, उससे उत्पन्न होनेवाले अनेक फलों में कदापि नहीं। कर्म का फल तेरा हेतु न हो। कर्म न

करने का भी तुझे आग्रह न हो। ४७

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

हे धनंजय! आसक्ति त्यागकर योगस्थ रहते हुए अर्थात् सफलता-निष्फलता में समान भाव रखकर तू कर्मकर। समता का ही नाम योग है। ४८

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

हे धनंजय! समत्वबुद्धि की तुलना में केवल कर्म बहुत तुच्छ है। तू समत्वबुद्धि का आश्रय ले। फल को हेतु बनानेवाले मनुष्य दया के पात्र हैं। ४९

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धियुक्त अर्थात् समतावाले पुरुष को यहां पाप-पुण्य का स्पर्श नहीं होता, इसलिए तू समत्व के लिए प्रयत्न कर। समता ही कार्यकुशलता है। ५०

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

क्योंकि समत्व बुद्धिवाले लोग कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल का त्याग करके जन्म-बंधन से मुक्त हो जाते हैं और निष्कलंक गति—मोक्षपद—पाते हैं। ५१

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़ से पार उतर जायगी तब तुझे सुने हुए के विषय में और सुनने को जो बाकी होगा उसके विषय में उदासीनता प्राप्त होगी। ५२

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अनेक प्रकार के सिद्धांतों को सुनने से व्यग्र हुई तेरी बुद्धि

जब समाधि में स्थिर होगी तभी तू समत्व को प्राप्त होगा। ५३

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

हे केशव ! स्थितप्रज्ञ अथवा समाधिस्थ के क्या लक्षण होते हैं ? स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता, बैठता और चलता है ? ५४

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! जब मनुष्य मन में उठती हुई समस्त कामनाओं का त्याग करता है और आत्मा द्वारा ही आत्मा में संतुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। ५५

टिप्पणी—आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट रहना अर्थात् आत्मा का आनंद अंदर से खोजना, सुख-दुःख देनेवाली बाहरी चीजों पर आनंद का आधार न रखना। आनंद सुख से भिन्न वस्तु है, यह ध्यान में रखना चाहिए। मुझे धन मिलने पर मैं उसमें सुख मानूं यह मोह है। मैं भिखारी होऊं, भूख का दुःख होने पर भी चोरी या दूसरे प्रलोभनों में न पड़ने में जो बात मौजूद है वह आनंद देती है और वही आत्मसंतोष है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुःख से जो दुखी न हो, सुख की इच्छा न रखे और जो राग, भय और क्रोध से रहित हो वह स्थिरबुद्धि मुनि कहलाता है। ५६

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

सर्वत्र रागरहित होकर जो पुरुष शुभ या अशुभ की प्राप्ति में न हर्षित होता है, न शोक करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है। ५७

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

कछुआ जैसे सब ओर से अंग समेट लेता है वैसे जब यह पुरुष इंद्रियों को उनके विषय में से समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई कही जाती है । ५८

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

देहधारी निराहारी रहता है तब उसके विषय मंद पड़ जाते हैं। परंतु रस नहीं जाता। वह रस तो ईश्वर का साक्षात्कार होने से निवृत्त होता है । ५९

टिप्पणी—यह श्लोक उपवास आदि का निषेध नहीं करता, वरन् उसकी सीमा सूचित करता है। विषयों को शांत करने के लिए उपवास आदि आवश्यक हैं, परंतु उनकी जड़ अर्थात् उनमें रहनेवाला रस तो ईश्वर की झांकी होने पर ही निवृत्त होता है। ईश्वर-साक्षात्कार का जिसे रस लग जाता है वह दूसरे रसों को भूल ही जाता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे कौंतेय ! चतुर पुरुष के उद्योग करते रहने पर भी इंद्रियां ऐसी प्रमथनशील हैं कि उसके मन को भी बलात्कार से हर लेती हैं। ६०

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

इन सब इंद्रियों को वश में रखकर योगी को मुझमें तन्मय हो रहना चाहिए, क्योंकि अपनी इंद्रियां जिसके वश में हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है। ६१

टिप्पणी—तात्पर्य, भक्ति के बिना—ईश्वर की सहायता के बिना—मनुष्य का प्रयत्न मिथ्या है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

विषयों का चिंतन करनेवाले पुरुष को उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति में से कामना होती है और कामना में से क्रोध उत्पन्न होता है। ६२

टिप्पणी—कामनावाले के लिए क्रोध अनिवार्य है, क्योंकि काम कभी तृप्त होता ही नहीं।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोध में से मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से स्मृति भ्रांत हो जाती है, स्मृति भ्रांत होने से ज्ञान का नाश हो जाता है और जिसका ज्ञान नष्ट हो गया वह मृतक-तुल्य है। ६३

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

परंतु जिसका मन अपने अधिकार में है और जिसकी इंद्रियां रागद्वेषरहित होकर उसके वश में रहती हैं, वह मनुष्य इंद्रियों का व्यापार चलाते हुए भी चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करता है। ६४

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

चित्त की प्रसन्नता से उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं और प्रसन्नता प्राप्त हो जानेवाले की बुद्धि तुरंत ही स्थिर हो जाती है। ६५

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

जिसे समत्व नहीं, उसे विवेक नहीं, उसे भक्ति नहीं और जिसे भक्ति नहीं उसे शांति नहीं है। और जहां शांति नहीं, वहां सुख कहां से हो सकता है? ६६

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

विषयों में भटकनेवाली इंद्रियों के पीछे जिसका मन दौड़ता है, उसका मन वायु जैसे नौका को जल से खींच ले जाता है वैसे ही उसकी बुद्धि को जहां चाहे खींच ले जाता है। ६७

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिए, हे महाबाहो ! जिसकी इंद्रियां चारों ओर के विषयों में से निकलकर उसके वश में आ जाती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। ६८

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

जब सब प्राणी सोते रहते हैं तब संयमी जागता रहता है। जब लोग जागते रहते हैं तब ज्ञानवान मुनि सोता रहता है। ६९

टिप्पणी—भोगी मनुष्य रात के बारह-एक बजे तक नाच, रंग, खानपान आदि में अपना समय बिताते हैं और फिर सबेरे-सात-आठ बजे तक सोते हैं। संयमी रात के सात-आठ बजे सोकर मध्यरात्रि में उठकर ईश्वर का ध्यान करते हैं। इसके सिवा भोगी संसार का प्रपंच बढ़ाता है, और ईश्वर को भूलता है, उधर संयमी सांसारिक प्रपंचों से बेखबर रहता है और ईश्वर का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार दोनों का पंथ न्यारा है। यह इस श्लोक में भगवान ने बतलाया है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

नदियों के प्रवेश से भरता रहने पर भी जैसे समुद्र अचल रहता है, वैसे ही जिस मनुष्य में संसार के भोग शांत हो जाते हैं वही शांति प्राप्त करता है, न कि कामनावाला मनुष्य। ७०

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

सब कामनाओं का त्याग करके जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकाररहित होकर विचरता है, वही शांति पाता है। ७१

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हे पार्थ ! ईश्वर को पहचाननेवाले की स्थिति ऐसी होती है। उसे पाने पर फिर वह मोह के वश नहीं होता और यदि मृत्युकाल में भी ऐसी ही स्थिति टिके तो वह ब्रह्मनिर्वाण पाता है। ७२

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'सांख्य-योग' नामक दूसरा अध्याय।

: ३ :

कर्मयोग

यह अध्याय गीता का स्वरूप जानने की कुंजी कहा जा सकता है। इसमें कर्म कैसे करना, कौन कर्म करना और सच्चा कर्म किसे कहना चाहिए, यह साफ किया गया है और वतलाया है कि सच्चा ज्ञान पारमार्थिक कर्मों में परिणत होना ही चाहिए।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अर्जुन बोले—

हे जनार्दन ! यदि आप कर्म की अपेक्षा बुद्धि को अधिक

श्रेष्ठ मानते हैं तो, हे केशव ! आप मुझे घोर कर्म में क्यों लगाते हैं ? १

टिप्पणी—बुद्धि अर्थात् समत्वबुद्धि ।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

अपने मिले-जुले वचनों से मेरी बुद्धि को आप शंकाग्रस्त-सी कर रहे हैं। अतः आप मुझे एक ही बात निश्चयपूर्वक कहिए कि जिससे मेरा कल्याण हो । २

टिप्पणी—अर्जुन उलझन में पड़ जाता है; क्योंकि एक ओर से भगवान उसे शिथिल हो जाने का उलाहना देते हैं और दूसरी ओर से दूसरे अध्याय के ४९वें, ५०वें श्लोकों में कर्मत्याग का आभास मिलता है । गंभीरता से विचारने पर ऐसा नहीं है, यह भगवान आगे बतलायंगे ।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

श्रीभगवान बोले—

हे पापरहित ! इस लोक में मैंने पहले दो अवस्थाएं बतलाई हैं—एक तो ज्ञानयोग द्वारा सांख्यों की, दूसरी कर्मयोग द्वारा योगियों की । ३

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

कर्म का आरंभ न करने से मनुष्य निष्कर्मता का अनुभव नहीं करता है और न कर्म के केवल बाहरी त्याग से मोक्ष पाता है । ४

टिप्पणी—निष्कर्मता अर्थात् मन से, वाणी से और शरीर से कर्म न करने का भाव । ऐसी निष्कर्मता का अनुभव कर्म न करने से कोई नहीं कर सकता । तब इसका अनुभव कैसे हो सो अब देखना है ।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

वास्तव में कोई एक क्षण भर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण परवश पड़े प्रत्येक मनुष्य से कर्म कराते हैं। ५

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो मनुष्य कर्म करनेवाली इंद्रियों को रोकता है, परंतु उन-उन इंद्रियों के विषयों का चिंतन मन से करता है, वह मूढ़ात्मा मिथ्याचारी कहलाता है। ६

टिप्पणी—जैसे, जो वाणी को तो रोकता है; पर मन में किसीको गाली देता है, वह निष्कर्म नहीं है; बल्कि मिथ्याचारी है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जब तक मन न रोका जा सके तब तक शरीर को रोकना निरर्थक है। शरीर को रोके बिना मन पर अंकुश आता ही नहीं। परंतु शरीर के अंकुश के साथ-साथ मन पर अंकुश रखने का प्रयत्न होना ही चाहिए। जो लोग भय या ऐसे बाहरी कारणों से शरीर को रोकते हैं, परंतु मन को नहीं रोकते, इतना ही नहीं, बल्कि मन से तो विषय भोगते हैं, और मौका पाने पर शरीर से भी भोगने में नहीं चूकते, ऐसे मिथ्याचारी की यहां निंदा है। इसके आगे का श्लोक इससे उलटा भाव दरसाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

परंतु, हे अर्जुन! जो इंद्रियों को मन के द्वारा नियम में रखते हुए संगरहित होकर कर्म करनेवाली इंद्रियों द्वारा कर्म-योग का आरम्भ करता है वह श्रेष्ठ पुरुष है। ७

टिप्पणी—इसमें बाहर और भीतर का मेल साधा गया है। मन को अंकुश में रखते हुए भी मनुष्य शरीर द्वारा अर्थात् कर्मेन्द्रियों द्वारा कुछ-न-कुछ तो करेगा ही; परंतु जिसका मन

अंकुश में है उसके कान दूषित बातें नहीं सुनेंगे, वरन् ईश्वर-भजन सुनेंगे, सत्पुरुषों की वाणी सुनेंगे। जिसका मन अपने वश में है वह जिसे हम लोग विषय मानते हैं, उसमें रस नहीं लेता। ऐसा मनुष्य आत्मा को शोभा देनेवाले ही कर्म करेगा। ऐसे कर्मों का करना कर्म-मार्ग है। जिसके द्वारा आत्मा का शरीर के बंधन से छूटने का योग सधे उसका नाम कर्मयोग है। इसमें विषयासक्ति को स्थान हो ही नहीं सकता।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

इसलिए तू नियत कर्म कर। कर्म न करने से कर्म करना अधिक अच्छा है। तेरे शरीर का व्यापार भी कर्म बिना नहीं चल सकता। ८

टिप्पणी—'नियत' शब्द मूल श्लोक में है। उसका संबंध पिछले श्लोक से है। उसमें मन द्वारा इंद्रियों को नियम में रखते हुए संगरहित होकर कर्म करनेवाले की स्तुति है। अतः यहां नियत कर्म का अर्थात् इंद्रियों को नियम में रखकर किये जानेवाले कर्म का अनुरोध किया गया है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

यज्ञार्थ किये जानेवाले कर्म के अतिरिक्त कर्म से इस लोक में बंधन पैदा होता है। इसलिए, हे कौंतेय ! तू रागरहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर। ९

टिप्पणी--यज्ञ अर्थात् परोपकारार्थ, ईश्वरार्थ किये हुए कर्म।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

यज्ञ के सहित प्रजा को उत्पन्न करके प्रजापति ब्रह्मा ने कहा, "यज्ञद्वारा तुम्हारी वृद्धि हो। यह तुम्हें इच्छित फल दे। १०

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

"तुम यज्ञद्वारा देवताओं का पोषण करो और देवता तुम्हारा पोषण करें और एक-दूसरे का पोषण करके तुम परम कल्याण को पाओ। ११

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

"यज्ञ द्वारा संतुष्ट हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग देंगे। उनका बदला दिये बिना, उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है।" १२

टिप्पणी—यहां देव का अर्थ है भूतमात्र, ईश्वर की सृष्टि। भूतमात्र की सेवा देव-सेवा है और वह यज्ञ है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

जो यज्ञ से उबरा हुआ खानेवाले हैं, वे सब पापों से छूट जाते हैं। जो अपने लिए ही पकाते हैं, वे पाप खाते हैं। १३

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

अन्न में से भूतमात्र उत्पन्न होते हैं। अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से होता है। १४

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

तू जान ले कि कर्म प्रकृति से उत्पन्न होता है, प्रकृति अक्षर-ब्रह्म से उत्पन्न होती है और इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म सदा यज्ञ में विद्यमान है। १५

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

इस प्रकार प्रवर्तित चक्र का जो अनुसरण नहीं करता, वह मनुष्य अपना जीवन पापी बनाता है, इंद्रिय सुखों में फंसा रहता

है और हे पार्थ ! वह व्यर्थ जीता है। १६

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

पर जो मनुष्य आत्मा में रमण करनेवाला है, जो उसीसे तृप्त रहता है और उसीमें संतोष मानता है, उसे कुछ करने को नहीं रहता। १७

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

करने, न करने में उसका कुछ भी स्वार्थ नहीं है। भूतमात्र में उसे कोई निजी स्वार्थ नहीं है। १८

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसलिए तू तो संगरहित रहकर निरंतर कर्तव्य कर्म कर। असंग रहकर ही कर्म करनेवाला पुरुष मोक्ष पाता है। १९

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

जनकादिक ने कर्म से ही परमसिद्धि प्राप्त की। लोकसंग्रह की दृष्टि से भी तुझे कर्म करना उचित है। २०

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरा जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

जो-जो आचरण उत्तम पुरुष करते हैं, उसका अनुकरण दूसरे लोग करते हैं। वे जिसे प्रमाण बनाते हैं, उसका लोग अनुसरण करते हैं। २१

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे पार्थ ! मुझे तीनों लोकों में कुछ भी करने को नहीं है। पाने योग्य कोई वस्तु न पाई हो ऐसा नहीं है, तो भी मैं कर्म में लगा रहता हूं। २२

टिप्पणी—सूर्य, चंद्र, पृथ्वी इत्यादि की अविराम और अचूक

गति ईश्वर के कर्म सूचित करती है। ये कर्म मानसिक नहीं, किंतु शारीरिक गिने जायंगे। ईश्वर निराकार होते हुए भी शारीरिक कर्म करता है, यह कैसे कहा जा सकता है, इस शंका की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि वह अशारीरिक होने पर भी शरीरों की तरह आचरण करता हुआ दिखाई देता है। इसलिए वह कर्म करते हुए भी अकर्मी है और अलिप्त है। मनुष्य को समझना तो यह है कि जैसे ईश्वर की प्रत्येक कृति यंत्रवत् काम करती है वैसे मनुष्य को भी बुद्धिपूर्वक किंतु यंत्र की भांति ही नियमित काम करना उचित है। मनुष्य की विशेषता यंत्रगति का अनादर करके स्वेच्छाचारी हो जाने में नहीं है, बल्कि ज्ञानपूर्वक उस गति का अनुकरण करने में है। अलिप्त रहकर, असंग रहकर, यंत्र की तरह कार्य करने से उसे घिस्सा नहीं लगता। वह मरते तक ताजा रहता है। देह अपने नियम के अनुसार समय पर नष्ट होती है, परंतु उसमें रहनेवाला आत्मा—जैसा था वैसा ही बना रहता है।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

यदि मैं कभी अंगड़ाई लेने के लिए भी रुके बिना कर्म में लगा न रहूं तो, हे पार्थ ! लोग सब तरह से मेरे बर्ताव का अनुसरण करेंगे। २३

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूं तो ये लोक भ्रष्ट हो जायं; मैं अव्यवस्था का कर्ता बनूं और इन लोगों का नाश करूं। २४

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

हे भारत ! जैसे अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं, वैसे ज्ञानी को आसक्तिरहित होकर लोककल्याण की इच्छा से कर्म करना चाहिए। २५

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।।२६।।

कर्म में आसक्त अज्ञानी मनुष्यों की बुद्धि को ज्ञानी डांवा-डोल न करे, परंतु समत्वपूर्वक अच्छे प्रकार से कर्म करके उन्हें सब कर्मों में लगावे । २६

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।२७।।

सब कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए होते हैं । अहंकार से मूढ़ बना हुआ मनुष्य 'मैं कर्ता हूं' यह मानता है । २७

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ।।२८।।

हे महाबाहो ! गुण और कर्म के विभाग का रहस्य जानने-वाला पुरुष 'गुण गुणों में बर्त रहे हैं' यह मानकर उनमें आसक्त नहीं होता । २८

टिप्पणी—जैसे श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाएं अपने-आप होती हैं, उनमें मनुष्य आसक्त नहीं होता और जब उन अंगों को व्याधि होती है तभी मनुष्यों को उनकी चिंता करनी पड़ती है या उसे उन अंगों के अस्तित्व का भान होता है, वैसे ही स्वाभाविक कर्म अपने-आप होते हों तो उनमें आसक्ति नहीं होती । जिसका स्वभाव उदार है वह स्वयं अपनी उदारता को जानता तक नहीं, पर उससे दान किये बिना रहा ही नहीं जाता । ऐसी अनासक्ति और अभ्यास ईश्वर कृपा से ही प्राप्त होती है ।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।२९।।

प्रकृति के गुणों से मोहे हुए मनुष्य गुणों के कर्मों में आसक्त रहते हैं । ज्ञानियों को चाहिए कि वे इन अज्ञानी मंद-बुद्धि लोगों को अस्थिर न कर सकें । २९

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।३०।।

अध्यात्म-वृत्ति रखकर, सब कर्म मुझे अर्पण करके, आसक्ति और ममत्व को छोड़, रागरहित होकर तू युद्ध कर। ३०

टिप्पणी—जो देह में विद्यमान आत्मा को पहचानता और उसे परमात्मा का अंश जानता है वह सब परमात्मा को ही अर्पण करेगा, वैसे ही, जैसे कि नौकर मालिक के नाम पर काम करता है और सब कुछ उसी को अर्पण करता है।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

श्रद्धा रखकर, द्वेष छोड़कर जो मनुष्य मेरे इस मत के अनुसार चलते हैं, वे भी कर्मबंधन से छूट जाते हैं। ३१

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

परंतु जो मेरे इस अभिप्राय में दोष निकालकर उसका अनुसरण नहीं करते, वे ज्ञानहीन मूर्ख हैं। उनका नाश हुआ समझ। ३२

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

ज्ञानी भी अपने स्वभाव के अनुसार बरतते हैं, प्राणीमात्र अपने स्वभाव का अनुसरण करते हैं, वहां बलात्कार क्या कर सकता है। ३३

टिप्पणी—यह श्लोक दूसरे अध्याय के ६१वें या ६८वें श्लोक का विरोधी नहीं है। इंद्रियों का निग्रह करते-करते मनुष्य को मर मिटना है, लेकिन फिर भी सफलता न मिले तो निग्रह अर्थात् बलात्कार निरर्थक है। इसमें निग्रह की निंदा नहीं की गई है, स्वभाव का साम्राज्य दिखाया गया है। 'यह तो मेरा स्वभाव है', यह कहकर कोई खोटाई करने लगे तो वह इस श्लोक का अर्थ नहीं समझता। स्वभाव का हमें पता नहीं चलता। जितनी आदतें हैं सब स्वभाव नहीं हैं। आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्व-गमन है। अतः आत्मा जब नीचे की ओर जाय तब उसका प्रतिकार

करना कर्त्तव्य है। इसीसे नीचे का श्लोक स्पष्ट करता है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

अपने-अपने विषयों के संबंध में इंद्रियों को रागद्वेष रहता ही है। मनुष्य को उनके वश न होना चाहिए, क्योंकि वे मनुष्य के मार्ग के बाधक हैं। ३४

टिप्पणी—कान का विषय है सुनना। जो भावे वह सुनने की इच्छा राग है। जो न भावे वह सुनने की अनिच्छा द्वेष है। 'यह तो स्वभाव है' कहकर रागद्वेष के वश ही नहीं होना चाहिए, उनका मुकाबला करना चाहिए। आत्मा का स्वभाव सुख-दुःख से अछूते रहना है। उस स्वभाव तक मनुष्य को पहुंचना है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

पराये धर्म के सुलभ होने पर भी उससे अपना धर्म विगुण हो तो भी अधिक अच्छा है। स्वधर्म में मृत्यु भली है। परधर्म भयावह है। ३५

टिप्पणी—समाज में एक का धर्म झाड़ू देने का होता है और दूसरे का धर्म हिसाब रखने का होता है। हिसाब रखनेवाला भले ही श्रेष्ठ गिना जाय, परंतु झाड़ू देनेवाला अपना धर्म त्याग दे तो वह भ्रष्ट हो जायगा और समाज को हानि पहुंचेगी। ईश्वर के दरबार में दोनों की सेवा का मूल्य उनकी निष्ठा के अनुसार कूता जायगा। पेशे की कीमत वहां तो एक ही होती है। दोनों ईश्वरार्पण बुद्धि से अपना कर्त्तव्य-पालन करें तो समानरूप से मोक्ष के अधिकारी बनते हैं।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन बोले—

फिर यह पुरुष बलात्कारपूर्वक प्रेरित हुए की भांति, न

चाहता हुआ भी, किस की प्रेरणा से पाप करता है ? ३६

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान बोले—

रजोगुण से उत्पन्न होनेवाला यह (प्रेरक) काम है, क्रोध है, इसका पेट ही नहीं भरता। यह महापापी है। इसे इस लोक में शत्रुरूप समझो। ३७

टिप्पणी—हमारा वास्तविक शत्रु अंतर में रहनेवाला काम कहिए या क्रोध कहिए वही है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जैसे धुएं से आग या मैल से दर्पण अथवा झिल्ली से गर्भ ढका रहता है, वैसे कामादिरूप शत्रु से यह ज्ञान ढका रहता है। ३८

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे कौंतेय ! तृप्त न किया जा सकनेवाला यह कामरूप अग्नि नित्य का शत्रु है, उससे ज्ञानी का ज्ञान ढका हुआ है। ३९

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इंद्रियां, मन और बुद्धि, इस शत्रु के निवास-स्थान हैं। इनके द्वारा ज्ञान को ढककर यह शत्रु देहधारी को बेसुध कर देता है। ४०

टिप्पणी—इंद्रियों में काम व्याप्त होने पर मन मलिन होता है, उससे विवेकशक्ति मंद पड़ती है, उससे ज्ञान का नाश होता है, (देखो अध्याय २, श्लोक ६२-६४)

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

हे भरतर्षभ ! इसलिए तू पहले तो इंद्रियों को नियम में रखकर ज्ञान और अनुभव का नाश करनेवाले इस पापी का त्याग अवश्य कर। ४१

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इंद्रियां सूक्ष्म हैं, उनसे अधिक सूक्ष्म मन है, उससे अधिक सूक्ष्म बुद्धि है। जो बुद्धि से भी अत्यंत सूक्ष्म है वह आत्मा है। ४२

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि यदि इंद्रियां वश में रहें तो सूक्ष्म काम को जीतना सहज हो जाय।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार बुद्धि से परे आत्मा को पहचानकर और आत्मा द्वारा मन को वश में करके, हे महाबाहो ! कामरूप दुर्जय शत्रु का संहार कर। ४३

टिप्पणी—यदि मनुष्य शरीरस्थ आत्मा को जान ले तो मन उसके वश में रहेगा, इंद्रियों के वश में नहीं रहेगा। और मन जीता जाय तो काम क्या कर सकता है ?

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्री कृष्णार्जुनसंवाद का 'कर्मयोग' नामक तीसरा अध्याय।

:४:

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

इस अध्याय में तीसरे का विशेष विवेचन है और भिन्न-भिन्न प्रकार के कई यज्ञों का वर्णन है।

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

श्रीभगवान बोले—

यह अविनाशी योग मैंने विवस्वान (सूर्य) से कहा। उन्होंने मनु से और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा। १

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

इस प्रकार परंपरा से प्राप्त, राजर्षियों का जाना हुआ वह योग दीर्घकाल के बल से नष्ट हो गया। २

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

वही पुरातन योग मैंने आज तुझसे कहा है। कारण, तू मेरा भक्त है और यह योग उत्तम मर्म की बात है। ३

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अर्जुन बोले—

आपका जन्म तो अभी हुआ है, विवस्वान का पहले हो चुका है। तब मैं कैसे जानूं कि आपने वह (योग) पहले कहा था? ४

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

श्री भगवान बोले—

हे अर्जुन ! मेरे और तेरे जन्म तो बहुत हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूं, तू नहीं जानता। ५

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा
भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय
संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

मैं अजन्मा, अविनाशी और इसके सिवा भूतमात्र का ईश्वर हूं; तथापि अपने स्वभाव को लेकर अपनी माया के बल से जन्म ग्रहण करता हूं। ६

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

हे भारत ! जब-जब धर्म मंद पड़ता है, अधर्म जोर करता है, तब-तब मैं जन्म धारण करता हूं। ७

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

साधुओं की रक्षा, दुष्टों के विनाश तथा धर्म का पुनरुद्धार करने के लिए युग-युग में मैं जन्म लेता हूं। ८

टिप्पणी—यहां श्रद्धालु को आश्वासन है और सत्य की—धर्म की—अविचलता की प्रतिज्ञा है। इस संसार में उतार-चढ़ाव हुआ ही करता है, परंतु अंत में धर्म की ही जय होती है। संतों का नाश नहीं होता, क्योंकि सत्य का नाश नहीं होता। दुष्टों का नाश ही है, क्योंकि असत्य का अस्तित्व नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि इसका खयाल रखकर अपने कर्तापन के अभिमान के कारण हिंसा न करे, दुराचार न करे। ईश्वर की गहन माया अपना काम करती ही रहती है। यही अवतार या ईश्वर का जन्म है। वस्तुतः तो ईश्वर का जन्म होता ही नहीं।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार जो मेरे दिव्य जन्म और कर्म का रहस्य जानता है वह शरीर का त्याग करके पुनर्जन्म नहीं पाता, बल्कि मुझे पाता है। ९

टिप्पणी—क्योंकि जब मनुष्य का दृढ़ विश्वास हो जाता है कि ईश्वर सत्य की ही जय कराता है तब वह सत्य को नहीं

छोड़ता, धीरज रखता है, दुःख सहन करता है और ममतारहित रहने के कारण जन्म-मरण के चक्कर से छूटकर ईश्वर का ही ध्यान धरते हुए उसी में लय हो जाता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

राग, भय और क्रोध से रहित हुए मेरा ही ध्यान धरते हुए, मेरा ही आश्रय लेनेवाले ज्ञानरूपी तप से पवित्र हुए बहुतों ने मेरे स्वरूप को पाया है। १०

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

जो जिस प्रकार मेरा आश्रय लेते हैं, उस प्रकार मैं उन्हें फल देता हूं। चाहे जिस तरह भी हो, हे पार्थ ! मनुष्य मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं—मेरे शासन में रहते हैं। ११

टिप्पणी—तात्पर्य, कोई ईश्वरी नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता। जैसा बोता है, वैसा काटता है; जैसा करता है, वैसा भरता है। ईश्वरी कानून में—कर्म के नियम में अपवाद नहीं है। सबको समान अर्थात् अपनी योग्यता के अनुसार न्याय मिलता है।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

कर्म की सिद्धि चाहनेवाले इस लोक में देवताओं को पूजते हैं। इससे उन्हें कर्मजनित फल तुरंत मनुष्य-लोक में ही मिल जाता है। १२

टिप्पणी—देवता से मतलब स्वर्ग में रहनेवाले इंद्र-वरुणादि व्यक्तियों से नहीं है। देवता का अर्थ है ईश्वर की अंशरूपी शक्ति। इस अर्थ में मनुष्य भी देवता है। भाप, बिजली आदि महान् शक्तियां देवता हैं। उनकी आराधना करने का फल तुरंत और इस लोक में मिलता हुआ हम देखते हैं। वह फल क्षणिक

होता है। वह आत्मा को ही संतोष नहीं देता तो मोक्ष तो दे ही कहां से सकता है ?

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

गुण और कर्म के विभागानुसार चार वर्ण मैंने उत्पन्न किये हैं, उनका कर्त्ता होने पर भी मुझे तू अविनाशी-अकर्त्ता जानना। १३

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

मुझे कर्म स्पर्श नहीं करते हैं। मुझे इनके फल की लालसा नहीं है। इस प्रकार जो मुझे अच्छी तरह जानते हैं, वे कर्म के बन्धन में नहीं पड़ते। १४

टिप्पणी—क्योंकि मनुष्य के सामने, कर्म करते हुए अकर्मी रहने का सर्वोत्तम दृष्टांत है। और सबका कर्त्ता ईश्वर ही है, हम निमित्तमात्र ही हैं, तो फिर कर्तापन का अभिमान कैसे हो सकता है ?

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

ऐसे जानकर पूर्वकाल में मुमुक्षु व्यक्तियों ने कर्म किये हैं। इससे तू भी पूर्वज जैसे सदा से करते आये हैं वैसे कर। १५

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषय में समझदारों को भी मोह हुआ है। उस कर्म के विषय में मैं तुझे यथार्थ रूप से बतलाऊंगा उसे जानकर तू अशुभ से बचेगा। १६

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्म, निषिद्धकर्म और अकर्म का भेद जानना चाहिए। कर्म की गति गूढ़ है। १७

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।१८।।

कर्म में जो अकर्म देखता है और अकर्म में जो कर्म देखता है, वह लोगों में बुद्धिमान गिना जाता है। वह योगी है और वह संपूर्ण कर्म करनेवाला है। १८

टिप्पणी—कर्म करते हुए भी जो कर्तापन का अभिमान नहीं रखता, उसका कर्म अकर्म है और जो कर्म का बाहर से त्याग करते हुए भी मन के महल बनाता ही रहता है, उसका अकर्म कर्म है। जिसे लकवा हो गया है वह जब इरादा करके—अभिमानपूर्वक—बेकार हुए अंग को हिलाता है, तब हिलता है। वह बीमार अंग को हिलाने रूपी क्रिया का कर्त्ता बना। आत्मा का गुण अकर्ता का है। मोहग्रस्त होकर अपने को कर्ता माननेवाले आत्मा को मानो लकवा हो गया है और वह अभिमानी होकर कर्म करता है। इस भांति जो कर्म की गति को जानता है, वही बुद्धिमान योगी कर्त्तव्यपरायण गिना जाता है। 'मैं करता हूं' यह माननेवाला कर्म-विकर्म का भेद भूल जाता है और साधन के भले-बुरे का विचार नहीं करता। आत्मा की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है, इसलिए जब मनुष्य नीति-मार्ग से हटता है तब यह कहा जाना चाहिए कि उसमें अहंकार अवश्य है। अभिमानरहित पुरुष के कर्म स्वभाव से ही सात्त्विक होते हैं।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।।१९।।

जिसके समस्त आरंभ कामना और संकल्परहित हैं, उसके कर्म ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा भस्म हो गये हैं, ऐसे को ज्ञानी लोग पंडित कहते हैं। १९

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ।।२०।।

जिसने कर्म फल का त्याग किया है, जो सदा संतुष्ट रहता है, जिसे किसी आश्रय की लालसा नहीं है, वह कर्म में अच्छी

तरह लगे रहने पर भी, कहा जा सकता है कि वह कुछ भी नहीं करता। २०

टिप्पणी—अर्थात् उसे कर्म का वंधन भोगना नहीं पड़ता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जो आशारहित है, जिसका मन अपने वश में है, जिसने सारा संग्रह छोड़ दिया है और जिसका शरीर भर ही कर्म करता है, वह करते हुए भी दोषी नहीं होता। २१

टिप्पणी—अभिमानपूर्वक किया हुआ कुल कर्म चाहे जैसा सात्त्विक होने पर भी बंधन करनेवाला है। वह जव ईश्वरार्पण बुद्धि से, विना अभिमान के, होता है तव बंधनरहित बनता है। जिसका 'मैं' शून्यता को प्राप्त हो गया है, उसका शरीर भर ही कर्म करता है। सोते हुए मनुष्य का शरीर भर ही कर्म करता है, यह कहा जा सकता है। जो कैदी विवश होकर अनिच्छा से हल चलाता है, उसका शरीर ही काम करता है। जो अपनी इच्छा से ईश्वर का कैदी बना है, उसका भी शरीरभर ही काम करता है। खुद तो शून्य बन गया है, प्रेरक ईश्वर है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

जो यथालाभ से संतुष्ट रहता है, जो सुख-दुःखादि द्वंद्वों से मुक्त हो गया है, जो द्वेषरहित हो गया है, जो सफलता, निष्फलता में तटस्थ है, वह कर्म करते हुए भी बंधन में नहीं पड़ता है। २२

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

जो आसक्तिरहित है, जिसका चित्त ज्ञानमय है, जो मुक्त है और जो यज्ञार्थ ही कर्म करनेवाला है, उसके सारे कर्म लय हो जाते हैं। २३

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

(यज्ञ में) अर्पण ब्रह्म है, हवन की वस्तु—हवि ब्रह्म है, ब्रह्मरूपी अग्नि में हवन करनेवाला भी ब्रह्म है; इस प्रकार कर्म के साथ जिसने ब्रह्म का मेल साधा है वह ब्रह्म को ही पाता है। २४

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

इसके सिवा कितने ही योगी देवताओं का पूजनरूपी यज्ञ करते हैं और कितने ही ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ द्वारा यज्ञ को ही होमते हैं। २५

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

और कितने ही श्रवणादि इंद्रियों का संयमरूप यज्ञ करते हैं और कुछ शब्दादि विषयों को इंद्रियाग्नि में होमते हैं। २६

टिप्पणी—सुनने की क्रिया इत्यादि का संयम करना एक बात है और इंद्रियों को उपयोग में लाते हुए उनके विषयों को प्रभुप्रीत्यर्थ-काम में लाना दूसरी बात है, जैसे भजनादि सुनना। वस्तुतः तो दोनों एक हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

और कितने ही समस्त इंद्रिय कर्मों को और प्राणकर्मों को ज्ञानदीपक से प्रज्वलित की हुई आत्मसंयमरूपी योगाग्नि में होमते हैं। २७

टिप्पणी—अर्थात् परमात्मा में तन्मय हो जाते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

इस प्रकार कोई यज्ञार्थ द्रव्य देनेवाले होते हैं; कोई तप करनेवाले होते हैं। कितने ही अष्टांगयोग साधनेवाले होते हैं।

कितने ही स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ करते हैं। ये सब कठिन व्रत-धारी प्रयत्नशील याज्ञिक हैं। २८

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

कितने ही प्राणायाम में तत्पर रहनेवाले अपान को प्राण-वायु में होमते हैं, प्राण को अपान में होमते हैं अथवा प्राण और अपान दोनों का अवरोध करते हैं। २९

टिप्पणी—ये तीन प्रकार के प्राणायाम हैं—रेचक, पूरक और कुंभक। संस्कृत में प्राणवायु का अर्थ गुजराती (और हिंदी) की अपेक्षा उलटा है। वहां प्राणवायु अंदर से बाहर निकलनेवाली वायु को कहते हैं। हम बाहर से जिसे अंदर खींचते हैं उसे प्राणवायु (आक्सीजन) कहते हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

इसके सिवा दूसरे आहार का संयम करके प्राणों को प्राण में होमते हैं। यज्ञों द्वारा अपने पापों को क्षीण करनेवाले ये सब यज्ञ के जाननेवाले हैं। ३०

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

हे कुरुसत्तम ! यज्ञ से बचा हुआ अमृत खानेवाले लोग सनातन ब्रह्म को पाते हैं। यज्ञ न करनेवाले के लिए यह लोक नहीं है तो परलोक तो हो ही कहां से सकता है। ३१

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

इस प्रकार वेद में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन हुआ है। इन सबको कर्म से उत्पन्न हुआ जान। इस प्रकार सबको जान-कर तू मोक्ष पावेगा। ३२

टिप्पणी—यहां कर्म का व्यापक अर्थ है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक। ऐसे कर्म के बिना यज्ञ नहीं हो सकता।

यज्ञ बिना मोक्ष नहीं होता । इस प्रकार जानना और तदनुसार आचरण करना, इसका नाम यज्ञों का जानना है । तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने शरीर, बुद्धि और आत्मा को प्रभुप्रीत्यर्थ—लोकसेवार्थ काम में न लावे तो वह चोर ठहरता है और मोक्ष के योग्य नहीं बन सकता । केवल बुद्धि-शक्ति को ही काम में लावे और शरीर तथा आत्मा को चुरावे तो वह पूरा याज्ञिक नहीं है। इन शक्तियों को प्राप्त किए बिना उसका परोपकारार्थ उपयोग नहीं हो सकता। इसलिए आत्म-शुद्धि के बिना लोकसेवा असंभव है । सेवक को शरीर, बुद्धि और आत्मा अर्थात् नीति, तीनों का समान रूप से विकास करना कर्त्तव्य है ।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे परंतप ! द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक अच्छा है, क्योंकि हे पार्थ ! कर्ममात्र ज्ञान में ही पराकाष्ठा को पहुंचते हैं। ३३

टिप्पणी—परोपकार-वृत्ति से दिया हुआ द्रव्य भी यदि ज्ञानपूर्वक न दिया गया हो तो बहुत बार हानि करता है, यह किसने अनुभव नहीं किया है ? अच्छी वृत्ति से होनेवाले सब कर्म तभी शोभा देते हैं जब उनके साथ ज्ञान का मेल हो। इसलिए कर्ममात्र की पूर्णाहुति तो ज्ञान में ही है ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

इसे तू तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानियों की सेवा करके और नम्रतापूर्वक विवेकसहित बारम्बार प्रश्न करके जानना । वे तेरी जिज्ञासा तृप्त करेंगे । ३४

टिप्पणी—ज्ञान प्राप्त करने की तीन शर्तें—प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा इस युग में खूब ध्यान में रखने योग्य हैं । प्रणिपात अर्थात् नम्रता, विवेक, परिप्रश्न अर्थात् बारम्बार पूछना, सेवारहित नम्रता खुशामद में शुमार हो सकती है । फिर, ज्ञान

खोज के बिना संभव नहीं है, इसलिए जब तक समझ में न आवे तब तक शिष्य का गुरु से नम्रतापूर्वक प्रश्न पूछते रहना जिज्ञासा की निशानी है। इसमें श्रद्धा की आवश्यकता है। जिस पर श्रद्धा नहीं होती उसकी ओर हार्दिक नम्रता नहीं होती, उसकी सेवा तो हो ही कहां से सकती है?

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥३५॥

यह ज्ञान पाने के बाद, हे पांडव! तुझे फिर ऐसा मोह न होगा। इस ज्ञान के द्वारा तू भूतमात्र को आत्मा में और मुझमें देखेगा। ३५

टिप्पणी—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का यही अर्थ है। जिसे आत्मदर्शन हो गया है वह अपनी और दूसरे की आत्मा में भेद नहीं देखता।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥३६॥

तू समस्त पापियों में बड़े-से-बड़ा पापी होने पर भी ज्ञान-रूपी नौका द्वारा सब पापों को पार कर जायगा। ३६

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥३७॥

हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देता है। ३७

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥३८॥

ज्ञान के समान इस संसार में दूसरा कुछ पवित्र नहीं है। योग में—समत्व में पूर्णता प्राप्त मनुष्य समय पर अपने-आपमें उस ज्ञान को पाता है। ३८

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं
तत्परः संयतेन्द्रियः।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शांति-
मचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

श्रद्धावान ईश्वरपरायण, जितेंद्रिय पुरुष ज्ञान पाता है और ज्ञान पाकर तुरंत परम शान्ति को पाता है। ३९

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

जो अज्ञानी और श्रद्धारहित होकर संशयवान है, उसका नाश होता है। संशयवान के लिए न तो यह लोक है, न परलोक। उसे कहीं सुख नहीं है। ४०

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

जिसने समत्वरूपी योग द्वारा कर्मों को अर्थात् कर्मफल का त्याग किया है और ज्ञान द्वारा संशय को छिन्न कर डाला है वैसे आत्मदर्शी को, हे धनंजय ! कर्म बंधनरूप नहीं होते। ४१

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिए, हे भारत ! हृदय में ज्ञान से उत्पन्न हुए संशय को आत्म-ज्ञान-रूपी तलवार से नाश करके योग—समत्व धारण करके खड़ा हो। ४२

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीता-रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन-संवाद का 'ज्ञान कर्मसंन्यास-योग' नामक चौथा अध्याय।

: ५ :

कर्मसंन्यासयोग

इस अध्याय में बतलाया गया है कि कर्मयोग के बिना कर्म-

संन्यास हो ही नहीं सकता और वस्तुतः दोनों एक ही हैं।

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! कर्मों के त्याग की और फिर कर्मों के योग की आप स्तुति करते हैं। मुझे ठीक निश्चयपूर्वक कहिए कि इन दोनों में श्रेयस्कर क्या है ? १

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्रीभगवान बोले—

कर्मों का त्याग और योग दोनों मोक्ष देनेवाले हैं। उनमें भी कर्मसंन्यास से कर्मयोग बढ़कर है। २

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

जो मनुष्य द्वेष नहीं करता और इच्छा नहीं करता, उसे नित्य संन्यासी जानना चाहिए। जो सुख-दुःखादि द्वंद्व से मुक्त है, वह सहज में बन्धनों से छूट जाता है। ३

टिप्पणी—तात्पर्य, कर्म का त्याग संन्यास का खास लक्षण नहीं है, बल्कि द्वंद्वातीत होना ही है—एक मनुष्य कर्म करता हुआ भी संन्यासी हो सकता है। दूसरा, कर्म न करते हुए भी, मिथ्याचारी हो सकता है। (देखो अध्याय ३, श्लोक ६)

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

सांख्य और योग—ज्ञान और कर्म—ये दो भिन्न हैं, ऐसा अज्ञानी कहते हैं, पंडित नहीं कहते। एक में अच्छी तरह स्थिर रहनेवाला भी दोनों का फल पाता है। ४

टिप्पणी—ज्ञानयोगी लोक-संग्रहरूपी कर्मयोग का विशेष

फल संकल्पमात्र से प्राप्त करता है। कर्मयोगी अपनी अनासक्ति के कारण बाह्य कर्म करते हुए भी ज्ञानयोगी की शांति का अधिकारी अनायास बनता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

जो स्थान सांख्यमार्गी पाता है वही योगी भी पाता है। जो सांख्य और योग को एकरूप देखता है वही सच्चा देखनेवाला है। ५

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

हे महाबाहो ! कर्मयोग के बिना कर्मत्याग कष्टसाध्य है, परंतु समभाववाला मुनि शीघ्र मोक्ष पाता है। ६

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

जिसने योग साधा है, जिसने हृदय को विशुद्ध किया है, जिसने मन और इंद्रियों को जीता है और जो भूतमात्र को अपने-जैसा ही समझता है, ऐसा मनुष्य कर्म करते हुए भी उससे अलिप्त रहता है। ७

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, सांस लेते, बोलते, छोड़ते, लेते, आंख खोलते, मूंदते केवल इंद्रियां ही अपना काम करती हैं, ऐसी भावना रखकर तत्त्वज्ञ योगी यह समझे कि 'मैं कुछ भी नहीं करता हूं।' ८-९

टिप्पणी—जबतक अभिमान है तबतक ऐसी अलिप्त स्थिति नहीं आती। अतः विषयासक्त मनुष्य यह कहकर छूट नहीं सकता कि 'विषयों को मैं नहीं भोगता, इंद्रियां अपना काम करती

हैं।' ऐसा अनर्थ करनेवाला न गीता को समझता हैं और न धर्म को जानता है। यह बात नीचे का श्लोक स्पष्ट करता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

जो मनुष्य कर्मों को ब्रह्मार्पण करके आसक्ति छोड़कर आचरण करता है वह पाप से उसी तरह अलिप्त रहता है जैसे पानी में रहनेवाला कमल अलिप्त रहता है। १०

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

शरीर से, मन से, बुद्धि से या केवल इंद्रियों से भी योगीजन आसक्ति-रहित होकर आत्म-शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। ११

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

समतावान कर्मफल का त्याग करके परम शान्ति पाता है। अस्थिरचित्त कामनायुक्त होने के कारण फल में फंसकर बंधन में रहता है। १२

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

संयमी पुरुष मन से सब कर्मों का त्याग करके नवद्वारवाले नगररूपी शरीर में रहते हुए भी, कुछ न करता, न कराता हुआ सुख से रहता है। १३

टिप्पणी—दो नाक, दो कान, दो आंखें, मलत्याग के दो स्थान और मुख, शरीर के नौ मुख्य द्वार हैं। वैसे तो त्वचा के असंख्य छिद्रमात्र दरवाजे ही हैं। इन दरवाजों का चौकीदार यदि इनमें आने-जानेवाले अधिकारियों को ही आने-जाने देकर अपना धर्म पालता है तो उसके लिए कहा जा सकता है कि वह, यह आवा-जाही होते रहने पर भी, उसका हिस्सेदार नहीं बल्कि केवल साक्षी है, इससे वह न करता है, न कराता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

जगत् का प्रभु न कर्तापन को रचता है, न कर्म रचता है, न कर्म और फल का मेल साधता है । प्रकृति ही सब करती है । १४

टिप्पणी—ईश्वर कर्ता नहीं है । कर्म का नियम अटल और अनिवार्य है । और जो जैसा करता है उसको वैसा भरना ही पड़ता है । इसी में ईश्वर की महान् दया और उसका न्याय विद्यमान है । शुद्ध न्याय में शुद्ध दया है । न्याय की विरोधी दया, दया नहीं है, बल्कि क्रूरता है । पर मनुष्य त्रिकालदर्शी नहीं है । अत: उसके लिए तो दया-क्षमा ही न्याय है । वह स्वयं निरन्तर न्याय का पात्र बना हुआ क्षमा का याचक है । वह दूसरे का न्याय क्षमा से ही चुका सकता है । क्षमा के गुण का विकास करने पर ही अंत में अकर्ता—योगी—समतावान—कर्म में कुशल बनता है ।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

ईश्वर किसीके पाप या पुण्य को नहीं ओढ़ता । अज्ञान द्वारा ज्ञान के ढक जाने से लोग मोह में फंसते हैं । १५

टिप्पणी—अज्ञान से, 'मैं करता हूं' इस वृत्ति से मनुष्य कर्म बन्धन बांधते हुए भी भले-बुरे फल का आरोप ईश्वर पर करता है, यह मोह-जाल है ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

परंतु जिनके अज्ञान का आत्मज्ञानद्वारा नाश हो गया है, उनका वह सूर्य के समान, प्रकाशमय ज्ञान परमतत्त्व का दर्शन कराता है । १६

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

ज्ञान द्वारा जिनके पाप धुल गए हैं, वे ईश्वर का ध्यान

धरनेवाले, तन्मय हुए, उसमें स्थिर रहनेवाले, उसीको सर्वस्व माननेवाले लोग मोक्ष पाते हैं। १७

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

विद्वान और विनयवान ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में और कुत्ते को खानेवाले मनुष्य में ज्ञानी समदृष्टि रखते हैं। १८

टिप्पणी—तात्पर्य, सबकी, उनकी आवश्यकतानुसार सेवा करते हैं। ब्राह्मण और चांडाल के प्रति समभाव रखने का अर्थ यह है कि ब्राह्मण को सांप काटने पर उसके घाव को जैसे ज्ञानी प्रेमभाव से चूसकर उसका विष दूर करने का प्रयत्न करेगा वैसा ही बर्ताव चांडाल को भी सांप काटने पर करेगा।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

जिनका मन समत्व में स्थिर हो गया है उन्होंने इस देह में रहते ही संसार को जीत लिया है। ब्रह्म, निष्कलंक और समभावी है, इसलिए वे ब्रह्म में ही स्थिर होते हैं। १९

टिप्पणी—मनुष्य जैसा और जिसका चिंतन करता है वैसा हो जाता है। इसलिए समत्व का चिंतन करके, दोषरहित होकर, समत्व के मूर्तिरूप निर्दोष ब्रह्म को पाता है।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जिसकी बुद्धि स्थिर हुई है, जिसका मोह नष्ट हो गया है, जो ब्रह्म को जानता है और ब्रह्मपरायण रहता है, वह प्रिय को पाकर सुख नहीं मानता और अप्रिय को पाकर दुःख का अनुभव नहीं करता। २०

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा
विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा
सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाह्य विषयों में आसक्ति न रखनेवाला पुरुष अपने अंतः-करण में जो आनन्द भोगता है वह अक्षय आ न्द पूर्वोक्त ब्रह्म-परायण पुरुष अनुभव करता है। २१

टिप्पणी—अंतर्मुख होनेवाला ही ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है और वही परम आनन्द पाता है। विषयों से निवृत्त रहकर कर्म करना और ब्रह्म-समाधि में रमण करना ये दो भिन्न वस्तुएं नहीं हैं, वरन् एक ही वस्तु को देखने की दो दृष्टियां हैं—एक ही सिक्के की दो पीठें हैं।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

विषय-जनित भोग अवश्य दुःखों के कारण हैं। हे कौंतेय ! वे आदि और अन्तवाले हैं। बुद्धिमान मनुष्य उनमें नहीं फंसता। २२

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

देहांत के पहले जिस मनुष्य ने इस देह से ही काम और क्रोध के वेग को सहन करने की शक्ति प्राप्त की है उस मनुष्य ने समत्व को पाया है, वह सुखी है। २३

टिप्पणी—मरे हुए शरीर को जैसे इच्छा या द्वेष नहीं होता, सुख-दुःख नहीं होता, वैसे जो जीवित रहते भी मृतसमान, जड़ भरत की भांति देहातीत रह सकता है वह इस संसार में विजयी हुआ है और वह वास्तविक सुख को जानता है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जिसे आंतरिक आनन्द है, जिसके हृदय में शांति है, जिसे निश्चित रूप से अंतर्ज्ञान हुआ है वह ब्रह्मरूप हुआ योगी ब्रह्म-निर्वाण पाता है। २४

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

जिनके पाप नष्ट हो गए हैं, जिनकी शंकाएं शांत हो गई हैं,

जिन्होंने मन पर अधिकार कर लिया है और जो प्राणीमात्र के हित में ही लगे रहते हैं, ऐसे ऋषि ब्रह्म निर्वाण पाते हैं। २५

> कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
> अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

जो अपने को पहचानते हैं, जिन्होंने काम-क्रोध को जीता है और जिन्होंने मन को वश किया है, ऐसे यतियों को सर्वत्र ब्रह्मनिर्वाण ही है। २६

> स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
> प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
> यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
> विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

बाह्य विषय-भोगों का बहिष्कार करके, दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थिर करके, नासिका द्वारा आने-जानेवाले प्राण और अपान वायु की गति को एक समान रखकर, इंद्रिय, मन और बुद्धि को वश में करके तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर जो मुनि मोक्षपरायण रहता है, वह सदा मुक्त ही है। २७-२८

टिप्पणी—प्राणवायु अंदर से बाहर निकलनेवाली और अपान बाहर से अंदर जानेवाली वायु है। इन श्लोकों में प्राणायामादि यौगिक क्रियाओं का समर्थन है। प्राणायामादि तो बाह्य क्रियाएं हैं और उनका प्रभाव शरीर को स्वस्थ रखने और परमात्मा के रहनेयोग्य मंदिर बनाने तक ही परिमित है। भोगी का साधारण व्यायामादि से जो काम निकलता है, वही योगी का प्राणायामादि से निकलता है। भोगी के व्यायामादि उसकी इंद्रियों को उत्तेजित करने में सहायता पहुंचाते हैं। प्राणायामादि योगी के शरीर को निरोगी और कठिन बनाने पर भी, इंद्रियों को शांत रखने में सहायता करते हैं। आजकल प्राणायामादि की विधि बहुत ही कम लोग जानते हैं और उनमें भी बहुत थोड़े उसका सदुपयोग करते हैं। जिसने इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर

अधिक नहीं तो प्राथमिक विजय प्राप्त की है, जिसे मोक्ष की उत्कट अभिलाषा है, जिसने रागद्वेषादि को जीतकर भय को छोड़ दिया है, उसे प्राणायामादि उपयोगी और सहायक होते हैं, अंतः शौच-रहित प्राणायामादि बंधन का एक साधन बनकर मनुष्य को मोह-कूप में अधिक नीचे ले जा सकते हैं—ले जाते हैं, ऐसा बहुतों का अनुभव है। इससे योगींद्र पतंजलि ने यम-नियम को प्रथम स्थान देकर उसके साधक के लिए ही मोक्षमार्ग में प्राणायामादि को सहायक माना है।

यम पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम पांच हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

यज्ञ और तप के भोक्ता, सर्वलोक के महेश्वर और भूतमात्र के हित करनेवाले ऐसे मुझको जानकर (उक्त मुनि) शांति प्राप्त करता है। २९

टिप्पणी—कोई यह न समझे कि इस अध्याय के चौदहवें, पंद्रहवें तथा ऐसे ही दूसरे श्लोकों का यह श्लोक विरोधी है। ईश्वर सर्वशक्तिमान होते हुए कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता जो कहो सो है और नहीं है। वह अवर्णनीय है। मनुष्य की भाषा से वह अतीत है। इससे उसमें परस्पर विरोधी गुणों और शक्तियों का भी आरोपण करके, मनुष्य उसकी झांकी की आशा रखता है।

ॐ तत्सत्

इति श्रमद्भगवद् गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्री कृष्णार्जुन संवाद का 'कर्मसंन्यासयोग' नामक पांचवां अध्याय।

: ६ :

ध्यानयोग

इस अध्याय में योग साधन के—समत्व प्राप्त करने के—कितने ही साधन बतलाये गये हैं।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

श्री भगवान बोले—

कर्मफल का आश्रय लिये बिना जो मनुष्य विहित कर्म करता है वह संन्यासी है, वह योगी है। जो अग्नि का और समस्त क्रियाओं का त्याग करके बैठ जाता है वह नहीं। १

टिप्पणी—अग्नि से तात्पर्य है साधन मात्र। जब अग्नि के द्वारा होम होते थे तब अग्नि की आवश्यकता थी। इस युग में यदि चरखे को सेवा का साधन मानें तो उसका त्याग करने से संन्यासी नहीं हुआ जा सकता।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पांडव ! जिसे संन्यास कहते हैं उसे तू योग जान। जिसने मन के संकल्पों को त्यागा नहीं वह कभी योगी नहीं हो सकता। २

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

योग साधनेवाले को कर्म साधन है, जिसने उसे साधा है उसे शांति साधन है। ३

टिप्पणी—जिसकी आत्मशुद्धि हो गई है, जिसने समत्व सिद्ध कर लिया है, उसे आत्मदर्शन सहज है। इसका यह अर्थ नहीं है कि योगारूढ़ को लोक-संग्रह के लिए भी कर्म करने की

आवश्यकता नहीं रहती। लोक-संग्रह के बिना तो वह जी ही नहीं सकता। अतः सेवा-कर्म करना भी उसके लिए सहज हो जाता है। वह दिखावे के लिए कुछ नहीं करता। (अध्याय ३, ४ अध्याय ५, २ से मिलाइए)

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

जब मनुष्य इंद्रियों के विषयों में या कर्म में आसक्त नहीं होता और संकल्प तज देता है तब वह योगारूढ़ कहलाता है। ४

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

आत्मा से मनुष्य आत्म का उद्धार करे, उसकी अधोगति न करे। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। ५

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

उसीका आत्मा बन्धु है जिसने अपने बल से मन को जीता है। जिसने मन को जीता नहीं वह अपने ही साथ शत्रु का-सा बर्ताव करता है। ६

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

जिसने अपना मन जीता है और जो संपूर्ण रूप से शांत हो गया है उसका आत्मा सरदी-गरमी, दुःख-सुख और मान-अपमान में समान रहता है। ७

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

जो ज्ञान और अनुभव से तृप्त हो गया है, जो अविचल है, जिसने इंद्रियों को जीत लिया है और जिसे मिट्टी, पत्थर और सोना समान है, ऐसा ईश्वरपरायण मनुष्य योगी कहलाता है। ८

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

हितेच्छु, मित्र, शत्रु, निष्पक्षपाती, दोनों का भला चाहनेवाला, द्वेषी, बन्धु और साधु तथा पापी इन सब में जो समान भाव रखता है वह श्रेष्ठ है। ९

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

चित्त स्थिर करके, वासना और संग्रह का त्याग करके, अकेला एकांत में रहकर योगी निरंतर आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़े। १०

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

पवित्र स्थान में, न बहुत नीचा, न बहुत ऊंचा, ऐसा कुश, मृगचर्म और वस्त्र एक-पर-एक बिछाकर स्थिर आसन अपने लिए करके, वहां एकाग्र मन से बैठकर चित्त और इंद्रियों को वश करके आत्म-शुद्धि के लिए योग साधे। ११-१२

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

धड़, गर्दन और सिर एक सीध में अचल रखकर, स्थिर रहकर, इधर-उधर न देखता हुआ, अपने नासिकाग्र पर निगाह टिकाकर पूर्ण शांति से, निर्भय होकर, ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहकर, मन को मारकर, मुझमें परायण हुआ योगी मेरा ध्यान धरता हुआ बैठे। १३-१४

टिप्पणी—नासिकाग्र से मतलब है भृकुटी के बीच का भाग। (देखो अध्याय ५-२७) ब्रह्मचारी व्रत का अर्थ केवल वीर्य-संग्रह

ही नहीं है, बल्कि ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए आवश्यक अहिंसादि सभी व्रत हैं।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस प्रकार जिसका मन नियम में है ऐसा योगी आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ता है और मेरी प्राप्ति में मिलनेवाली मोक्षरूपी परमशान्ति प्राप्त करता है। १५

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

हे अर्जुन! यह समत्वरूप योग न तो प्राप्त होता है ठूंसकर खानेवाले को, न उपवासी को, वैसे ही, वह बहुत सोनेवाले या बहुत जागनेवाले को प्राप्त नहीं होता। १६

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

जो मनुष्य आहार-विहार में, दूसरे कर्मों में, सोने-जागने में परिमित रहता है, उसका योग दुःखभंजन हो जाता है। १७

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

भली-भांति नियमबद्ध मन जब आत्मा में स्थिर होता है और मनुष्य सारी कामनाओं .. निस्पृह हो बैठता है तब वह योगी कहलाता है। १८

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने का प्रयत्न करनेवाले स्थिर चित्त योगी की स्थिति वायु-रहित स्थान में अचल रहनेवाले दीपक की-सी कही गई है। १९

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

योग के सेवन से अंकुश में आया हुआ मन जहां शांति पाता है, आत्मा से ही आत्मा को पहचानकर आत्मा में जहां मनुष्य संतोष पाता है और इंद्रियों से परे और बुद्धि से ग्रहण करने योग्य अनंत सुख का जहां अनुभव होता है, जहां रहकर मनुष्य मूल-वस्तु से चलायमान नहीं होता और जिसे पाने पर दूसरे किसी लाभ को वह उससे अधिक नहीं मानता और जिसमें स्थिर हुआ महादुःख से भी डगमगाता नहीं, उस दुःख के प्रसंग से रहित स्थिति का नाम योग की स्थिति समझना चाहिए। यह योग ऊबे विना दृढ़तापूर्वक साधन योग्य है। २०—२३

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसेवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

संकल्प से उत्पन्न होनेवाली सारी कामनाओं का पूर्णरूप से त्याग करके, मन से ही इंद्रिय-समूह को सब ओर से भलीभांति नियम में लाकर अचल बुद्धि से योगी धीरे-धीरे शांत होता जाय और मन को आत्मा में पिरोकर, दूसरी किसी बात का विचार न करे। २४—२५

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

जहाँ-जहाँ चंचल और अस्थिर मन भागे, वहां-वहां से (योगी) उसे नियम में लाकर अपने वश में लावे। २६

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

जिसका मन भलीभाँति शांत हुआ है, जिसके विकार शांत हो गए हैं, ऐसा ब्रह्ममय हुआ निष्पाप योगी अवश्य उत्तम सुख प्राप्त करता है। २७

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

आत्मा के साथ निरन्तर अनुसंधान करते हुए पाप-रहित हुआ यह योगी सरलता से ब्रह्मप्राप्ति-रूप अनंत सुख का अनुभव करता है। २८

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

सर्वत्र समभाव रखनेवाला योगी अपनेको सब भूतों में और सब भूतों को अपने में देखता है। २९

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, वह मेरी दृष्टि से ओझल नहीं होता और मैं उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होता। ३०

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

मुझमें लीन हुआ जो योगी भूतमात्र में रहनेवाले मुझको भजता रहता है, वह चाहे जिस तरह बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है। ३१

टिप्पणी—'आप' जबतक है तबतक तो परमात्मा 'पर' है, 'आप' मिट जाने पर—शून्य होने पर ही एक परमात्मा को सर्वत्र देखता है। (अध्याय १३-२३ की टिप्पणी देखिए।)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

हे अर्जुन ! जो मनुष्य अपने-जैसा सबको देखता है और सुख हो या दुःख, दोनों को समान समझता है, वह योगी श्रेष्ठ गिना जाता है। ३२

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः
साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि
चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन ! यह (समत्वरूपी) योग जो आपने कहा, उसकी स्थिरता मैं चंचलता के कारण नहीं देख पाता। ३३

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

क्योंकि, हे कृष्ण ! मन चंचल ही है, मनुष्य को मथ डालता है और बड़ा बलवान है। जैसे वायु का दबाना बहुत कठिन है वैसे मन का वश करना भी मैं कठिन मानता हूं। ३४

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

श्रीभगवान बोले—

हे महाबाहो ! सच है कि मन चंचल होने के कारण वश में करना कठिन है। पर हे कौंतेय ! अभ्यास और वैराग्य से वह वश में किया जा सकता है। ३५

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

मेरा मत है कि जिसका मन अपने वश में नहीं है, उसके लिए योग साधना बड़ा कठिन है; पर जिसका मन अपने वश में है और जो यत्नवान है वह उपाय द्वारा साध सकता है। ३६

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! जो श्रद्धावान तो है पर यत्न में मंद होने के कारण योग-भ्रष्ट हो जाता है, वह सफलता न पाने पर कौन-सी गति पाता है ? ३७

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे महाबाहो ! योग से भ्रष्ट हुआ, ब्रह्ममार्ग में भटका हुआ वह छिन्न-भिन्न बादलों की भांति उभयभ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ? ३८

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण ! मेरा यह संशय दूर करने में आप समर्थ हैं । आपके सिवा दूसरा कोई इस संशय को दूर करनेवाला नहीं मिल सकता । ३९

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! ऐसे मनुष्यों का नाश न तो इस लोक में होता है, न परलोक में । हे तात ! कल्याणमार्ग में जानेवाले की कभी दुर्गति होती ही नहीं । ४०

प्राप्य पुण्यकृतां लोका-
नुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे
योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

पुण्यशाली लोगों को मिलनेवाले स्थान को पाकर और

वहां बहुत समय तक रहकर योग-भ्रष्ट मनुष्य पवित्र और साधन-वाले के घर जन्म लेता है। ४१

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

या ज्ञानवान योगी के ही कुल में वह जन्म लेता है। संसार में ऐसा जन्म अवश्य बहुत दुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

हे कुरुनन्दन ! वहां उसे पूर्व-जन्म के बुद्धि-संस्कार मिलते हैं और वहां से वह मोक्ष के लिए आगे बढ़ता है। ४३

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

उसी पूर्वाभ्यास के कारण वह अवश्य योग की ओर खिंचता है। योग का जिज्ञासु तक सकाम वैदिक कर्म करनेवाले की स्थिति को पार कर जाता है। ४४

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्ध स्ततो यति परां गतिम् ॥४५॥

लगन से प्रयत्न करता हुआ योगी पाप से छूटकर अनेक जन्मों से विशुद्ध होता हुआ परम गति को पाता है। ४५

तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

तपस्वी से योगी अधिक है, ज्ञानी से भी वह अधिक माना जाता है, वैसे ही कर्मकांडी से वह अधिक है, इसलिए, हे अर्जुन ! तू योगी बन। ४६

टिप्पणी—यहां तपस्वी की तपस्या फलेच्छायुक्त है। ज्ञानी से मतलब अनुभव ज्ञानी से नहीं है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७

सारे योगियों में भी उसे मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूं जो मुझमें मन पिरोकर मुझे श्रद्धापूर्वक भजता है। ४७

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्‌भागवद्‌गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्री कृष्णार्जुन-संवाद का 'ध्यानयोग' नामक छठा अध्याय।

: ७ :

ज्ञानविज्ञानयोग

इस अध्याय में यह समझाना आरंभ किया गया है कि ईश्वरत्तत्त्व और ईश्वरभक्ति क्या है।

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ! मेरे में मन पिरोकर और और मेरा आश्रय लेकर योग साधता हुआ तू निश्चयपूर्वक और संपूर्ण रूप से मुझे किस तरह पहचान सकता है सो सुन। १

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

अनुभवयुक्त यह ज्ञान में तुझे पूर्णरूप से कहूंगा। इसे जानने के बाद इस लोक में अधिक कुछ जानने को नहीं रह जाता। २

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

हजारों मनुष्यों में से कोई ही सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। प्रयत्न करनेवाले सिद्धों में से भी कोई ही मुझे वास्तविक रूप से पहचानता है। ३

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंभाव—यह आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है। ४

टिप्पणी—इन आठ तत्त्वोंवाला स्वरूप क्षेत्र या क्षर पुरुष है। (देखो अध्याय १३—५; और अध्याय १५—१६)।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

यह अपरा प्रकृति हुई। इससे भी ऊँची परा प्रकृति है, जो जीवरूप है। हे महाबाहो ! यह जगत उसके आधार पर निभ रहा है। ५

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

भूतमात्र की उत्पत्ति का कारण तू इन दोनों को जान। समूचे जगत की उत्पत्ति और लय का कारण मैं हूं। ६

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

हे धनंजय ! मुझसे उच्च दूसरा कुछ नहीं है। जैसे धागे में मनके पिराये हुए रहते हैं वैसे यह मुझमें पिरोया हुआ है। ७

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

हे कौंतेय ! जल में रस मैं हूं, सूर्य-चंद्र में तेज मैं हूं; सब वेदों में ओंकार मैं हूं, आकाश में शब्द मैं हूं और पुरुषों का पराक्रम मैं हूं। ८

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

पृथ्वी में सुगंध मैं हूं, अग्नि में तेज मैं हूं, प्राणीमात्र का जीवन मैं हूं, तपस्वी का तप मैं हूं। ९

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

हे पार्थ! समस्त जीवों का सनातन बीज मुझे जान। बुद्धिमान की बुद्धि मैं हूं, तेजस्वी का तेज मैं हूं। १०

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

बलवान काम और रागरहित बल मैं हूं और हे भरतर्षभ! प्राणियों में धर्म का अविरोधी काम मैं हूं। ११

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जो-जो सात्त्विक, राजसी और तामसी भाव हैं, उन्हें मुझसे उत्पन्न हुआ जान। परंतु मैं उनमें हूं, ऐसा नहीं है; वे मुझमें हैं। १२

टिप्पणी—इन भावों पर परमात्मा निर्भर नहीं है, बल्कि वे भाव उसपर निर्भर हैं। उसके आधार पर हैं, रहते हैं और उसके वश में हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

इन त्रिगुणी भावों से सारा संसार मोहित हो रहा है और इसलिए उनसे उच्च और भिन्न ऐसे मुझको—अविनाशी को—वह नहीं पहचानता। १३

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

इस मेरी तीन गुणोंवाली दैवी माया का तरना कठिन है; पर जो मेरी ही शरण लेते हैं वे इस माया को तर जाते हैं। १४

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

दुराचारी, मूढ़, अधम मनुष्य मेरी शरण नहीं आते। वे आसुरी भाववाले होते हैं और माया द्वारा उनका ज्ञान हरा हुआ होता है। १५

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे अर्जुन ! चार प्रकार के सदाचारी मनुष्य मुझे भजते हैं—दुखी, जिज्ञासु, कुछ प्राप्ति की इच्छावाले और ज्ञानी। १६

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उनमें जो नित्य समभावी एक को ही भजनेवाला है, वह ज्ञानी श्रेष्ठ है। मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय हूं और ज्ञानी मुझे प्रिय है। १७

उदाराः सर्व एवैते
ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा
मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

ये सभी भक्त अच्छे हैं, पर ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, ऐसा मेरा मत है; क्योंकि मुझे पाने के सिवा दूसरी अधिक उत्तम गति है ही नहीं, यह जानता हुआ वह योगी मेरा ही आश्रय लेता है। १८

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहुत जन्मों के अंत में ज्ञानी मुझे पाता है। सब वासुदेव-मय है, यों जाननेवाला महात्मा बहुत दुर्लभ है। १९

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

अनेक कामनाओं से जिन लोगों का ज्ञान हरा गया है, वे अपनी प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न विधि का आश्रय लेकर दूसरे देवताओं की शरण जाते हैं। २०

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जो-जो मनुष्य जिस-जिस स्वरूप की भक्ति श्रद्धापूर्वक करना चाहता है, उस-उस स्वरूप में उसकी श्रद्धा को मैं दृढ़ करता हूं। २१

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

श्रद्धापूर्वक उस-उस स्वरूप की वह आराधना करता है और उसके द्वारा मेरी निर्मित की हुई और अपनी इच्छित कामनाएं पूरी करता है। २२

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

उन अल्प बुद्धिवालों को जो फल मिलता है वह नाशवान होता है। देवताओं को भजनेवाले देवताओं को पाते हैं, मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। २३

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

मेरे परम अविनाशी और अनुपम स्वरूप को न जाननेवाले बुद्धिहीन लोग इंद्रियों से अतीत मुझको इंद्रियगम्य मानते हैं। २४

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

अपनी योगमाया से ढका हुआ मैं सबके लिए प्रकट नहीं हूं। यह मूढ़ जगत मुझ अजन्मा और अव्यय को भलीभांति नहीं पहचानता। २५

टिप्पणी—इस दृश्य जगत को उत्पन्न करने का सामर्थ्य

होते हुए भी अलिप्त होने के कारण परमात्मा के अदृश्य रहने का जो भाव है वह उसकी योगमाया है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन ! जो हो चुके हैं, जो हैं और होनेवाले सभी भूतों को मैं जानता हूं, पर मुझे कोई नहीं जानता। २६

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

हे भारत ! हे परंतप ! इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखादि द्वंद्व के मोह से प्राणीमात्र इस जगत में मोहग्रस्त रहते हैं। २७

येषां त्वन्तगतं पापं जानानां पुण्यकर्मणाम्।
तेद्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

पर जिन सदाचारी लोगों के पापों का अंत हो चुका है और जो द्वंद्व के मोह से मुक्त हो गये हैं वे अटल व्रतवाले मुझे भजते हैं। २८

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जो मेरा आश्रय लेकर जरा और मरण से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं वे पूर्णब्रह्म को, अध्यात्म को और अखिल कर्म को जानते हैं। २९

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञयुक्त मुझे जिन्होंने पहचाना है, वे समत्व को पाये हुए मुझे मृत्यु के समय भी पहचानते हैं। ३०

टिप्पणी—अधिभूतादि का अर्थ आठवें अध्याय में आता है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि इस संसार में ईश्वर के सिवा और कुछ भी नहीं है और समस्त कर्मों का कर्ता-भोक्ता वह है,

ऐसा समझकर जो मृत्यु के समय शांत रहकर ईश्वर में ही तन्मय रहता है तथा कोई वासना उस समय जिसे नहीं होती, उसने ईश्वर को पहचाना है और उसने मोक्ष पाई है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'ज्ञानविज्ञानयोग' नामक सातवां अध्याय।

: ८ :

अक्षरब्रह्मयोग

इस अध्याय में ईश्वरतत्त्व को विशेषरूप से समझाया गया है।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अर्जुन बोले—

हे पुरुषोत्तम ! इस ब्रह्म का क्या स्वरूप है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहते हैं ? अधिदैव क्या कहलाता है ? १

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

हे मधुसूदन ! इस देह में अधियज्ञ क्या है और किस प्रकार है ? और संयमी आपको मृत्यु के समय किस तरह पहचान सकता है। २

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

श्रीभगवान बोले—

जो सर्वोत्तम अविनाशी है वह ब्रह्म है; प्राणीमात्र में अपनी सत्ता से जो रहता है वह अध्यात्म है और प्राणीमात्र को उत्पन्न करनेवाला सृष्टिव्यापार कर्म कहलाता है। ३

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

अधिभूत मेरा नाशवान स्वरूप है। अधिदैवत उसमें रहनेवाला मेरा जीवस्वरूप है। और हे मनुष्यश्रेष्ठ ! अधियज्ञ इस शरीर में स्थित किंतु यज्ञ द्वारा शुद्ध हुआ जीवस्वरूप है। ४

टिप्पणी—तात्पर्य, अव्यक्त ब्रह्म से लेकर नाशवान दृश्य पदार्थमात्र परमात्मा ही है और सब उसी की कृति है। तब फिर मनुष्य प्राणी स्वयं कर्तापन का अभिमान रखने के बदले परमात्मा का दास बनकर सबकुछ उसे समर्पण क्यों न करे ?

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

अंतकाल में मुझे ही स्मरण करते-करते जो देहत्याग करता है वह मेरे स्वरूप को पाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। ५

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

अथवा तो हे कौंतेय ! नित्य जिस-जिस स्वरूप का ध्यान मनुष्य धरता है, उस-उस स्वरूप को अंतकाल में भी स्मरण करता हुआ वह देह छोड़ता है और इससे वह उस-उस स्वरूप को पाता है। ६

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

इसलिए सदा मुझे स्मरण कर और जूझता रह; इस प्रकार मुझमें मन और बुद्धि रखने से अवश्य मुझे पावेगा ७

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

हे पार्थ ! चित्त को अभ्यास से स्थिर करके और कहीं न भागने देकर जो एकाग्र होता है वह दिव्य परमपुरुष को पाता है। ८

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

जो मनुष्य मृत्युकाल में अचल मन से, भक्ति से युक्त होकर और योगबल से भृकुटी के बीच में अच्छी तरह प्राण को स्थापित करके सर्वज्ञ, पुरातन, नियंता, सूक्ष्मतम, सबके पालनहार, अचित्य, सूर्य के समान तेजस्वी, अज्ञानरूपी अन्धकार से पर स्वरूप का ठीक स्मरण करता है वह दिव्य परमपुरुष को पाता है। ९-१०

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

जिसे वेद जाननेवाले अक्षर नाम से वर्णन करते हैं, जिसमें वीतराग मुनि प्रवेश करते हैं और जिसकी प्राप्ति की इच्छा से लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद का संक्षिप्त वर्णन मैं तुझसे करूंगा। ११

सर्वद्वराणि संयम्य
मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राण-
मास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

इंद्रियों के सब द्वारों को रोककर, मन को हृदय में ठहराकर, मस्तक में प्राण को धारण करके समाधिस्थ होकर ॐ ऐसे एकाक्षरी ब्रह्म का उच्चारण और मेरा चिंतन करता हुआ जो मनुष्य देह त्यागता है वह परमगति को पाता है। १२-१३

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

हे पार्थ ! चित्त को अन्यत्र कहीं रखे बिना जो नित्य और निरंतर मेरा ही स्मरण करता है वह नित्ययुक्त योगी मुझे सहज में पाता है। १४

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

मुझे पाकर परमगति को पहुंचे हुए महात्मा दुःख के घर अशाश्वत पुनर्जन्म को नहीं पाते। १५

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे कौंतेय ! ब्रह्मलोक से लेकर सभी लोक फिर-फिर आनेवाले हैं, परंतु मुझे पाने के बाद मनुष्य को फिर जन्म नहीं लेना होता। १६

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

हजार युग तक ब्रह्मा का एक दिन और हजार युग तक की ब्रह्मा की एक रात, जो जानते हैं वे रात-दिन के जाननेवाले हैं। १७

टिप्पणी—तात्पर्य, हमारे चौबीस घंटे के रात-दिन कालचक्र के अंदर एक क्षण से भी सूक्ष्म हैं। उनकी कोई गिनती नहीं है। इसलिए उतने समय में मिलनेवाले भोग आकाश पुष्पवत् हैं, यों समझकर हमें उनकी ओर से उदासीन रहना चाहिए और

उतना ही समय हमारे पास है उसे भगवद्भक्ति में, सेवा में, व्यतीत कर सार्थक करना चाहिए और यदि तत्काल आत्मदर्शन न हो तो धीरज रखना चाहिए।

अव्यक्ताद्व्यक्तय: सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

(ब्रह्मा का) दिन आरंभ होने पर सब अव्यक्त में से व्यक्त होते हैं और रात पड़नेपर उनका प्रलय होता है अर्थात् अव्यक्त में लय हो जाते हैं। १८

टिप्पणी—यह जानकर भी मनुष्य को समझना चाहिए कि उसके हाथ में बहुत थोड़ी सत्ता है। उत्पत्ति और नाश का जोड़ा साथ-साथ चलता ही रहता है।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

हे पार्थ ! यह प्राणियों का समुदाय इस तरह पैदा हो-होकर रात पड़ने पर बरबस लय होता है और दिन उगने पर उत्पन्न होता है। १९

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो-
ऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु
नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

इस अव्यक्त से परे दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है। समस्त प्राणियों का नाश होते हुए भी वह सनातन अव्यक्त भाव नष्ट नही होता। २०

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

जो अव्यक्त, अक्षर (अविनाशी) कहलाता है, उसीको परमगति कहते हैं। जिसे पाने के बाद लोगों का पुनर्जन्म नहीं होता, वह मेरा परमधाम है। २१

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

हे पार्थ ! इस उत्तम पुरुष के दर्शन अनन्य भक्ति से होते हैं । इसमें भूतमात्र स्थित हैं और यह सब उससे व्याप्त है । २२

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

जिस समय मरकर योगी मोक्ष पाते हैं और जिस समय मरकर उन्हें पुनर्जन्म प्राप्त होता है, वह काल हे, भरतर्षभ ! मैं तुझसे कहूंगा । २३

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

उत्तरायण के छः महीनों में, शुक्लपक्ष में, दिन को जिस समय अग्नि की ज्वाला उठ रही हो उस समय जिसकी मृत्यु होती है वह ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म को पाता है । २४

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः
षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योति-
र्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

दक्षिणायन के छः महीनों में, कृष्णपक्ष में, रात्रि में जिस समय धुआं फैला हुआ हो उस समय मरनेवाले चंद्रलोक को पाकर पुनर्जन्म पाते हैं । २५

टिप्पणी—ऊपर के दो श्लोक मैं पूरी तौर से नहीं समझता। उनके शब्दार्थ का गीता की शिक्षा के साथ मेल नहीं बैठता। उस शिक्षा के अनुसार तो जो भक्तिमान है, जो सेवामार्ग को सेता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, वह चाहे जभी मरे, उसे मोक्ष ही है। उससे इन श्लोकों का शब्दार्थ विरोधी है। उसका भावार्थ यह अवश्य निकल सकता है कि जो यज्ञ करता है अर्थात् परोपकार में ही जो जीवन बिताता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, जो ब्रह्मविद् अर्थात् ज्ञानी है, मृत्यु के समय भी यदि उसकी ऐसी

स्थिति हो तो वह मोक्ष पाता है। इससे विपरीत जो यज्ञ नहीं करता जिसे ज्ञान नहीं है, जो भक्ति नहीं जानता वह चंद्रलोक अर्थात् क्षणिक लोक को पाकर फिर संसार-चक्र में लौटता है। चंद्र के निजी ज्योति नहीं है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

जगत में ज्ञान और अज्ञान के ये दो परंपरा से चलते आये मार्ग माने गए हैं। एक अर्थात् ज्ञानमार्ग से मनुष्य मोक्ष पाता है और दूसरे अर्थात् अज्ञान मार्ग से उसे पुनर्जन्म प्राप्त होता है।
२६

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

हे पार्थ ! इन दोनों मार्गों का जाननेवाला कोई भी योगी मोह में नहीं पड़ता। इसलिए हे अर्जुन ! तू सर्वदा योगयुक्त रहना।
२७

टिप्पणी—दोनों मार्गों का जाननेवाला और समभाव रखनेवाला अंधकार का—अज्ञान का मार्ग नहीं पकड़ता, इसी-का नाम है मोह में न पड़ना।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

यह वस्तु जान लेने के बाद वेद में, यज्ञ में, तप में, और दान में जो पुण्यफल बतलाया है, उस सबको पार करके योगी उत्तम आदि स्थान पाता है।
२८

टिप्पणी—अर्थात् जिसने ज्ञान, भक्ति और सेवा-कर्म से समभाव प्राप्त किया है, उसे न केवल सब पुण्यों का फल ही मिल जाता है, बल्कि उसे परम मोक्ष पद मिलता है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'अक्षरब्रह्मयोग' नामक आठवां अध्याय।

: ९ :

राजविद्याराजगुह्ययोग

इसमें भक्ति की महिमा गाई है।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

श्रीभगवान बोले—

तू द्वेषरहित है, इससे तुझे मैं गुह्य-से-गुह्य अनुभवयुक्त ज्ञान दूंगा, जिसे जानकर तू अकल्याण से बचेगा। १

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

विद्याओं में यह राजा है। गूढ़ वस्तुओं में भी राजा है। यह विद्या पवित्र है, उत्तम है, प्रत्यक्ष अनुभव में आने योग्य, धार्मिक, आचार में लाने में सहज और अविनाशी है। २

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

हे परंतप ! इस धर्म में जिन्हें श्रद्धा नहीं है, ऐसे लोग मुझे न पाकर मृत्युमय संसार-मार्ग में बारंबार ठोकर खाते हैं। ३

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

मेरे अव्यक्त स्वरूप से यह समूचा जगत भरा हुआ है। मुझमें—मेरे आधार पर—सब प्राणी हैं, मैं उनके आधार पर

नहीं हूं। ४

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

तथापि प्राणी मुझमें नहीं हैं ऐसा भी कहा जा सकता है। यह मेरा योगबल तू देख। मैं जीवों का पालन करनेवाला हूं, फिर भी मैं उनमें नहीं हूं; परंतु मैं उनका उत्पत्तिकारण हूं। ५

टिप्पणी—मुझमें सब जीव हैं और नहीं। उनमें मैं हूं और नहीं हूं। यह ईश्वर का योगबल, उसकी माया, उसका चमत्कार है। ईश्वर का वर्णन भगवान को भी मनुष्य की भाषा में ही करना ठहरा, इसलिए अनेक प्रकार के भाषा-प्रयोग करके उसे संतोष देते हैं। ईश्वरमय सब है, इसलिए सब उसमें है। वह अलिप्त है, प्राकृत कर्ता नहीं है, इसलिए उसमें जीव नहीं हैं, यह कहा जा सकता है। परंतु जो उसके भक्त हैं उनमें वह अवश्य है। जो नास्तिक हैं, उनमें उसकी दृष्टि से तो वह नहीं है। और इसे उसके चमत्कार के सिवा और क्या कहा जाय?

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

जैसे सर्वत्र विचरती हुई महान् वायु नित्य आकाश में विद्यमान है ही, वैसे सब प्राणी मुझमें हैं, ऐसा जान। ६

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

हे कौंतेय ! सारे प्राणी कल्प के अंत में मेरी प्रकृति में लय पाते हैं और कल्प का आरंभ होने पर मैं उन्हें फिर रचता हूं। ७

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

अपनी माया के आधार से मैं इस प्रकृति के प्रभाव के अधीन रहनेवाले प्राणियों के सारे समुदाय को बारंबार उत्पन्न

करता हूं। ८

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

हे धनंजय ! ये कर्म मुझे बंधन नहीं करते, क्योंकि मैं उनमें उदासीन के समान और आसक्तिरहित बर्तता हूं। ९

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

मेरे अधिकार के नीचे प्रकृति स्थावर और जंगम जगत को उत्पन्न करती है और इस हेतु, हे कौंतेय ! जगत घटमाल (रहँट) की भांति घूमा करता है। १०

अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषी तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

प्राणीमात्र का महेश्वररूप जो मैं हूं उसके भाव को न जानकर मूर्ख लोग मुझ मनुष्य-तनधारी की अवज्ञा करते हैं। ११

टिप्पणी—क्योंकि जो लोग ईश्वर की सत्ता नहीं मानते, वे शरीरस्थित अंतर्यामी को नहीं पहचानते और उसके अस्तित्व को न मानते हुए जड़वादी बने रहते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

व्यर्थ आशावाले, व्यर्थ काम करनेवाले और व्यर्थ ज्ञानवाले मूढ़ लोग मोह में डाल रखनेवाली राक्षसी या आसुरी प्रकृति का आश्रय लेते हैं। १२

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

इससे विपरीत, हे पार्थ ! महात्मालोग दैवी प्रकृति का आश्रय लेकर प्राणीमात्र के आदिकारण ऐसे अविनाशी मुझको जानकार एकनिष्ठा से भजते हैं। १३

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

दृढ़ निश्चयवाले, प्रयत्न करनेवाले वे निरंतर मेरा कीर्तन करते हैं, मुझे भक्ति से नमस्कार करते हैं और नित्य ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं। १४

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

और दूसरे लोग अद्वैतरूप से या द्वैतरूप से अथवा बहुरूप से सब कहीं रहनेवाले मुझको ज्ञान द्वारा पूजते हैं। १५

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

यज्ञ का संकल्प मैं हूं, यज्ञ मैं हूं, यज्ञ द्वारा पितरों का आधार मैं हूं, यज्ञ की वनस्पति मैं हूं, मंत्र मैं हूं, आहुति मैं हूं, अग्नि मैं हूं, और हवन-द्रव्य मैं हूं। १६

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

इस जगत् का पिता मैं, माता मैं, धारण करनेवाला मैं, पितामह मैं, जानने योग्य मैं, पवित्र ॐकार मैं, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूं। १७

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

गति मैं, पोषक मैं, प्रभु मैं, साक्षी मैं, निवास मैं, आश्रय मैं, हितैषी मैं, उत्पत्ति मैं, नाश मैं, स्थिति मैं, भंडार मैं और अव्यय बीज भी मैं हूं। १८

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

धूप मैं देता हूं, वर्षा को मैं ही रोक रखता और बरसने देता हूं। अमरता मैं हूं, मृत्यु मैं हूं और हे अर्जुन! सत् तथा असत् भी मैं ही हूं। १९

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

तीन वेद के कर्म करनेवाले सोमरस पीकर निष्पाप बने हुए यज्ञ द्वारा मुझे पूजकर स्वर्ग माँगते हैं। वे पवित्र देवलोक पाकर स्वर्ग में दिव्य भोग भोगते हैं। २०

टिप्पणी—सभी वैदिक क्रियाएं फल-प्राप्ति के लिए की जाती थीं और उनमें से कई क्रियाओं में सोमपान होता था, उसका यहां उल्लेख है। वे क्रियाएं क्या थीं, सोमरस क्या था, यह आज वास्तव में कोई नहीं कह सकता।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

इस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर वे पुण्य का क्षय हो जाने पर मृत्युलोक में वापस आते हैं। इस प्रकार तीन वेद के कर्म करनेवाले फल की इच्छा रखनेवाले जन्म-मरण के चक्कर काटा करते हैं। २१

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिंतन करते हुए मुझे भजते हैं, उन नित्य मुझमें ही रत रहनेवालों के योग-क्षेम का भार मैं उठाता हूं। २२

टिप्पणी—इस प्रकार योगी को पहचानने के तीन सुंदर लक्षण हैं—समत्व, कर्म-कौशल, अनन्य भक्ति। ये तीनों एक-दूसरे में ओत-प्रोत होने चाहिए। भक्ति के बिना समत्व नहीं मिलता, समत्व के बिना भक्ति नहीं मिलती और कर्म-कौशल के बिना भक्ति तथा समत्व का आभासमात्र होने का भय है। योग अर्थात् अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना और क्षेम अर्थात प्राप्त वस्तु को संभालकर रखना।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

और, हे कौंतेय ! जो श्रद्धापूर्वक दूसरे देवता को भजते हैं, वे भी भले ही विधिरहित भजें, मुझे ही भजते हैं। २३

टिप्पणी—विधिरहित अर्थात् अज्ञानवश, मुझ एक निरंजन निराकार को न जानकर।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

जो मैं ही सब यज्ञों को भोगनेवाला स्वामी हूं, उसे वे सच्चे स्वरूप में नहीं पहचानते, इसलिए वे गिरते हैं। २४

यान्ति देवव्रता देवान्
पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या
यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

देवताओं का पूजन करनेवाले देवलोकों को पाते हैं, पितरों का पूजन करनेवाले पितृलोक को पाते हैं, भूत-प्रेतादि को पूजनेवाले उन लोकों को पाते हैं और मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। २५

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

पत्र, फूल, फल या जल जो मुझे भक्तिपूर्वक अर्पित करता है वह प्रयत्नशील मनुष्य द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित किया हुआ मैं सेवन करता हूं। २६

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि ईश्वर प्रीत्यर्थ जो कुछ सेवाभाव से दिया जाता है, उसका स्वीकार उस प्राणी में रहनेवाले अंतर्यामीरूप से भगवान ही ग्रहण करते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

इसलिए हे कौंतेय ! जो करे, जो खाय, जो हवन में होमे,

जो तू दान में दे, जो तप करे, वह सब मुझे अर्पण करके करना। २७

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

इससे तू शुभाशुभ फल देनेवाले कर्म-बंधन से छूट जाएगा और फलत्यागरूपी समत्व को पाकर, जन्म-मरण से मुक्त होकर मुझे पावेगा। २८

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

सब प्राणियों में मैं समभाव से रहता हूं। मुझे कोई अप्रिय या प्रिय नहीं है। जो मुझें भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूं। २९

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

भारी दुराचारी भी यदि अनन्य भाव से मुझें भजे तो उसे साधु हुआ ही मानना चाहिए, क्योंकि अब उसका अच्छा संकल्प है। ३०

टिप्पणी—क्योंकि अनन्य भक्ति दुराचार को शांत कर देती है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

वह तुरंत धर्मात्मा हो जाता है और निरंतर शांति पाता है। हे कौंतेय ! तू निश्चयपूर्वक जानना कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता। ३१

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य
येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा-
स्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

फिर हे पार्थ ! जो पाप योनि हों वे भी और स्त्रियां, वैश्य

तथा शूद्र, जो मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, वे परमगति पाते हैं। ३२

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।।३३।।

तब फिर पुण्यवान ब्राह्मण और राजर्षि, जो मेरे भक्त हैं उनका तो कहना ही क्या है ! इसलिए इस अनित्य और सुख-रहित लोक में जन्मकर तू मुझे भज। ३३

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।।३४।।

मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, इससे मुझमें परायण होकर आत्मा को मेरे साथ जोड़कर तू मुझे ही पावेगा। ३४

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'राजविद्याराजगुह्ययोग' नामक नवां अध्याय।

: १० :

विभूतियोग

सातवें, आठवें और नवें अध्याय में भक्ति आदि का निरूपण करने के बाद भगवान अपनी अनंत विभूतियों का कुछ दिग्दर्शन भक्त के लिए कराते हैं।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।।१।।

श्रीभगवान बोले—

हे महाबाहो ! फिर मेरा परम वचन सुन। यह मैं तुझ

प्रियजन को तेरे हित के लिए कहूंगा। १

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥२॥

देव और महर्षि मेरी उत्पत्ति को नहीं जानते, क्योंकि मैं ही देवों का और महर्षियों का सब प्रकार से आदि कारण हूं। २

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥३॥

मृत्युलोक में रहता हुआ जो ज्ञानी लोकों के महेश्वर मुझको अजन्मा और अनादि रूप में जानता है वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। ३

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥५॥

बुद्धि, ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य, इंद्रियनिग्रह, शांति, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय और अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अपयश—इस प्रकार प्राणियों के भिन्न-भिन्न भाव मुझसे उत्पन्न होते हैं। ४-५

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥६॥

सप्तर्षि, उनके पहले सनकादिक चार और (चौदह) मनु मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए और उनमें से ये लोक उत्पन्न हुए हैं। ६

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥७॥

इस मेरी विभूति और शक्ति को जो यथार्थ जानता है वह अविचल समता को पाता है, इसमें संशय नहीं है। ७

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥८॥

मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूं और सब मुझसे ही प्रवृत्त होते हैं, यह जानकर समझदार लोग भावपूर्वक मुझे भजते हैं। ८

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

मुझमें चित्त लगानेवाले, मुझे प्राणार्पण करनेवाले एक-दूसरे को बोध कराते हुए, मेरा ही नित्य कीर्तन करते हुए, संतोष और आनंद में रहते हैं। ९

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

इस प्रकार मुझमें तन्मय रहनेवालों को और मुझे प्रेम से भजनेवालों को मैं ज्ञान देता हूं और उससे वे मुझे पाते हैं। १०

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

उनपर दया करके उनके हृदय में स्थित मैं ज्ञानरूपी प्रकाश-मय दीपक से उनके अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करता हूं। ११

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

अर्जुन बोले—

हे भगवान ! आप परम ब्रह्म हैं, परम धाम हैं, परम पवित्र हैं। समस्त ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आपको अविनाशी, दिव्यपुरुष, आदिदेव, अजन्मा, ईश्वररूप मानते हैं और आप स्वयं भी वैसा ही कहते हैं। १२-१३

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव ! आप जो कहते हैं उसे मैं सत्य मानता हूं। हे भगवान ! आपके स्वरूप को न देव जानते हैं न दानव। १४

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

हे पुरुषोत्तम ! हे जीवों के पिता ! हे जीवेश्वर ! हे देवों के देव ! हे जगत के स्वामी ! आप स्वयं ही अपने द्वारा अपने को जानते हैं। १५

वक्तुमर्हस्यशेषेण
दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोका-
निमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

जिन विभूतियों के द्वारा इन लोकों में आप व्याप रहे हैं, अपनी वह दिव्य विभूतियां पूरी-पूरी मुझसे आपको कहनी चाहिए। १६

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

हे योगिन् ! आपका नित्य चिंतन करते-करते आपको मैं कैसे पहचान सकता हूं ? हे भगवन् ! किस-किस रूप में आपका चिंतन करना चाहिए ? १७

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

हे जनार्दन ! अपनी शक्ति और अपनी विभूति का वर्णन मुझसे फिर विस्तारपूर्वक कीजिए। आप की अमृतमय वाणी सुनते-सुनते तृप्ति ही नहीं होती। १८

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

श्रीभगवान बोले—

हे कुरुश्रेष्ठ ! अच्छा, मैं अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य विभूतियां तुझे कहूंगा। उनके विस्तार का अंत तो है ही नहीं। १९

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे गुडाकेश ! मैं सब प्राणियों के हृदय में विद्यमान आत्मा हूं। मैं ही भूतमात्र का आदि, मध्य और अंत हूं। २०

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

आदित्यों में विष्णु मैं हूं, ज्योतियों में जगमगाता सूर्य मैं हूं, वायुओं में मरीचि मैं हूं, नक्षत्रों में चंद्र मैं हूं। २१

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदों में सामवेद मैं हूं, देवों में इंद्र मैं हूं, इंद्रियों में मन मैं हूं और प्राणियों का चेतन मैं हूं। २२

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्रों में शंकर मैं हूं, यक्ष और राक्षसों में कुबेर मैं हूं, वसुओं में अग्नि मैं हूं, पर्वतों में मेरु मैं हूं। २३

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

हे पार्थ ! पुरोहितों में प्रधान बृहस्पति मुझे समझ। सेना-पतियों में कार्त्तिक स्वामी मैं हूं और सरोवरों में सागर मैं हूं। २४

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

महर्षियों में भृगु मैं हूं, वाणी में एकाक्षरी ॐ मैं हूं, यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूं और स्थावरों में हिमालय मैं हूं। २५

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

सब वृक्षों में अश्वत्थ (पीपल) मैं हूं, देवर्षियों में नारद मैं हूं, गंधर्वों में चित्ररथ मैं हूं और सिद्धों में कपिल मुनि

मैं हूं। २६

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

अश्वों में अमृत में से उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा मुझे जान। हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा मैं हूं। २७

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

हथियारों में वज्र मैं हूं, गायों में कामधेनु मैं हूं, प्रजा की उत्पत्ति का कारण कामदेव मैं हूं, सर्पों में वासुकि मैं हूं। २८

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

नागों में शेषनाग मैं हूं, जलचरों में वरुण मैं हूं, पितरों में अर्यमा मैं हूं और दंड देनेवालों में यम मैं हूं। २९

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

दैत्यों में प्रह्लाद मैं हूं, गिननेवालो में काल मैं हूं, पशुओं में सिंह मैं हूँ, पक्षियों में गरुड़ मैं हूं। ३०

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

पावन करनेवालों में पवन मैं हूं, शस्त्रधारियों में परशुराम मैं हूं, मछलियों में मगरमच्छ मैं हूं, नदियों में गंगा मैं हूं। ३१

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

हे अर्जुन ! सृष्टियों का आदि, अंत और मध्य मैं हूं, विद्याओं में अध्यात्म विद्या मैं हूं और विवाद करनेवालों का विवाद मैं हूं। ३२

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

अक्षरों में अकार मैं हूँ, समासों में द्वंद्व मैं हूं, अविनाशी

काल मैं हूं और सर्वव्यापी धारण करनेवाला भी मैं हूं। ३३

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

सबको हरनेवाली मृत्यु मैं हूं, भविष्य में उत्पन्न होनेवाले का उत्पत्तिकारण मैं हूं और नारी-जाति के नामों में कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा (बुद्धि), धृति (धैर्य) और क्षमा मैं हूं। ३४

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

सामों में बृहत् (बड़ा) साम मैं हूं, छंदों में गायत्री छंद मैं हूं। महीनों में मार्गशीर्ष मैं हूं, ऋतुओं में वसंत मैं हूं। ३५

द्यूतं छलयतामस्मि
तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि
सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

छल करनेवाले का द्यूत मैं हूं, प्रतापी का प्रभाव मैं हूं, जय मैं हूं, निश्चय मैं हूं, सात्त्विक भाववाले का सत्त्व मैं हूं। ३६

टिप्पणी—छल करनेवालों का द्यूत मैं हूं, इस वचन से भड़कने की आवश्यकता नहीं है। यहां सारासार का निर्णय नहीं है, किंतु जो कुछ होता है वह विना ईश्वर की मर्जी के नहीं होता, यह बतलाया है और सब उसके अधीन है, यह जाननेवाला छली भी अपना अभिमान छोड़कर छल त्यागे।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

वृष्णिकुल में वासुदेव मैं हूं, पांडवों में धनंजय (अर्जुन) मैं हूं, मुनियों में व्यास मैं हूं और कवियों में उशना मैं हूं। ३७

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

शासक का दंड मैं हूं, जय चाहनेवालों की नीति मैं हूं, गुह्य

बातों में मौन मैं हूं और ज्ञानवान का ज्ञान मैं हूं। ३८

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

हे अर्जुन ! समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का कारण मैं हूं। जो कुछ स्थावर या जंगम है, वह मेरे बिना नहीं है। ३९

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियों का अंत नहीं है। विभूतियों का विस्तार मैंने केवल दृष्टांत रूप से बतलाया है। ४०

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

जो कुछ भी विभूतिमान, लक्ष्मीवान या प्रभावशाली है, उस-उसको मेरे तेज के अंश से ही हुआ समझ। ४१

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा हे अर्जुन ! यह विस्तारपूर्वक जानकर तुझे क्या करना है। अपने एक अंशमात्र से इस समूचे जगत को धारण करके मैं विद्यमान हूं। ४२

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'विभूतियोग' नामक दसवां अध्याय।

: ११ :

विश्वरूपदर्शनयोग

इस अध्याय में भगवान अपना विराट स्वरूप अर्जुन को बतलाते हैं। भक्तों को यह अध्याय बहुत प्रिय है। इसमें दलीलें

नहीं, बल्कि केवल काव्य है। इस अध्याय का पाठ करते-करते मनुष्य थकता ही नहीं।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अर्जुन बोले—

आपने मुझपर कृपा करके यह आध्यात्मिक परम रहस्य कहा है। आपके मुझसे कहे हुए इन वचनों से मेरा यह मोह टल गया है। १

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष महात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

प्राणियों की उत्पत्ति और नाश के संबंध में आपसे मैंने विस्तार पूर्वक सुना। हे कमलपत्राक्ष, उसी प्रकार आपका अविनाशी महात्म्य भी सुना। २

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

हे परमेश्वर! आप जैसा अपनेको पहचनवाते हैं वैसे ही हैं। हे पुरुषोत्तम! आपके उस ईश्वरी रूप के दर्शन करने की मुझे इच्छा होती है। ३

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

हे प्रभो! वह दर्शन करना मेरे लिए संभव मानते हैं तो हे योगेश्वर! उस अव्यय रूप का दर्शन कराइए। ४

श्री भगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ! मेरे सैकड़ों और हजारों रूप देख। वे नाना प्रकार के दिव्य, भिन्न-भिन्न रंग और आकृतिवाले हैं। ५

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

हे भारत ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, दो अश्विनीकुमारों और मरुतों को देख। पहले न देखे गये, ऐसे बहुत-से आश्चर्यों को तू देख। ६

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

हे गुडाकेश ! यहां मेरे शरीर में एक रूप से स्थित समूचा स्थावर और जंगम जगत तथा और जो कुछ तू देखना चाहता हो वह आज देख। ७

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

इन अपने चर्मचक्षुओं से तू मुझे देख नहीं सकता। तुझे मैं दिव्य चक्षु देता हूं। तू मेरा ईश्वरीय योग देख। ८

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

संजय ने कहा—

हे राजन् ! योगेश्वर कृष्ण ने ऐसा कहकर पार्थ को अपना परम ईश्वरीय रूप दिखलाया। ९

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

वह अनेक मुख और आंखोंवाला, अनेक अद्भुत दर्शनवाला, अनेक दिव्य आभूषणवाला और अनेक उठाये हुए दिव्य शस्त्रों वाला था। १०

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

उसने अनेक दिव्य मालाएं और वस्त्र धारण कर रखे थे, उसके दिव्य सुगंधित लेप लगे हुए थे। ऐसा वह सर्वप्रकार से

आश्चर्यमय, अनंत, सर्वव्यापी देव था। ११

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

आकाश में हजार सूर्यों का तेज एक साथ प्रकाशित हो उठे तो वह तेज उस महात्मा के तेज-जैसा कदाचित हो। १२

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

वहां इस देवाधिदेव के शरीर में पांडव ने अनेक प्रकार से विभक्त हुआ समूचा जगत एक रूप में विद्यमान देखा। १३

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

फिर आश्चर्यचकित और रोमांचित हुए धनंजय सिर झुका, हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले— १४

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे।
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन बोले—

हे देव! आपकी देह में मैं देवताओं को, भिन्न-भिन्न प्रकार के सब प्राणियों के समुदायों को, कमलासन पर विराजमान ईश ब्रह्मा को, सब ऋषियों को और दिव्य सर्पों को देखता हूं। १५

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

आपको मैं अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्रयुक्त अनंत रूपवाला देखता हूं। आपका अंत नहीं है, न मध्य है, न आपका आदि है। हे विश्वेश्वर! आपके विश्व रूप का मैं दर्शन कर

रहा हूं। १६

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी, तेज के पुंज, सर्वत्र जगमगाती ज्योतिवाले, साथ ही कठिनाई से दिखाई देनेवाले, अपरिमित और प्रज्वलित अग्नि किंवा सूर्य के समान सभी दिशाओं में देदीप्यमान आपको मैं देख रहा हूं। १७

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

आपको मैं जानने योग्य परम अक्षररूप, इस जगत का अंतिम आधार, सनातन धर्म का अविनाशी रक्षक और सनातन पुरुष मानता हूं। १८

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

जिसका आदि, मध्य या अंत नहीं है, जिसकी शक्ति अनंत है, जिसके अनंत बाहु हैं, जिसके सूर्य-चंद्ररूपी नेत्र हैं, जिसका मुख प्रज्वलित अग्नि के समान है और जो अपने तेज से इस जगत को तपा रहा है, ऐसे आपको मैं देख रहा हूं। १९

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

आकाश और पृथ्वी के बीच के इस अंतर में और समस्त

दिशाओं में आप ही अकेले व्याप्त हो रहे हैं। हे महात्मन् ! यह आपका अद्भुत उग्र रूप देखकर तीनों लोक थरथराते हैं। २०

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१॥

और यह देवों का संघ आपमें प्रवेश कर रहा है। भयभीत हुए कितने ही हाथ जोड़कर आपका स्तवन कर रहे हैं। महर्षि और सिद्धों का समुदाय '(जगत का) कल्याण हो' कहता हुआ अनेक प्रकार से आपका यश गा रहा है। २१

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुत, गरम ही पीनेवाले पितर, गंधर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों का संघ ये सभी विस्मित होकर आपको निरख रहे हैं। २२

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥२३॥

हे महाबाहो ! बहुत मुख और आंखोंवाला, बहुत हाथ, जंघा और पैरोंवाला, बहुत पेटोंवाला और बहुत दाढ़ों के कारण विकराल दीखनेवाला विशाल रूप देखकर लोग व्याकुल हो गए हैं। वसे ही मैं भी व्याकुल हो उठा हूं। २३

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥२४॥

आकाश का स्पर्श करते, जगमगाते, अनेक रंगवाले, खुले मुखवाले और विशाल तेजस्वी नेत्रवाले, आपको देखकर, हे विष्णु ! मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है और मैं धैर्य या शांति नहीं रख सकता। २४

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

प्रलयकाल के अग्नि के समान और विकराल दाढ़ोंवाला आपका मुख देखकर न मुझे दिशाएं जान पड़ती हैं, न शांति मिलती है। हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइए। २५

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

सब राजाओं के संघसहित, धृतराष्ट्र के ये पुत्र, भीष्म, द्रोणाचार्य, यह सूतपुत्र कर्ण और हमारे मुख्य योद्धा, विकराल दाढ़ोंवाले आपके भयानक मुख में वेगपूर्वक प्रवेश कर रहे हैं। कितनों के ही सिर चूर होकर आपके दांतों के बीच में लगे हुए दिखाई देते हैं। २६-२७

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जिस प्रकार नदियों की बड़ी धाराएं समुद्र की ओर दौड़ती हैं, उसी प्रकार आपके धधकते हुए मुख में ये लोक-नायक प्रवेश कर रहे हैं। २८

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जलते हुए दीपक में जैसे पतंग बढ़ते हुए वेग से पड़ते हैं, वैसे ही आपके मुख में भी सब लोग बढ़ते हुए वेग से प्रवेश कर रहे हैं। २९

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

सब लोकों को सब ओर से निगलकर आप अपने धधकते हुए मुख से चाट रहे हैं। हे सर्वव्यापी विष्णु! आपका उग्र प्रकाश समूचे जगत को तेज से पूरित कर रहा है और तपा रहा है। ३०

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

उग्ररूप आप कौन हैं सो मुझसे कहिए। हे देववर! आप प्रसन्न होइए। आप जो आदि कारण हैं उन्हें मैं जानना चाहता हूं। आपकी प्रवृत्ति मैं नहीं जानता। ३१

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

श्री भगवान बोले—

लोकों का नाश करनेवाला, बढ़ा हुआ मैं काल हूं। लोकों का नाश करने के लिए यहां आया हूं। प्रत्येक सेना में जो ये सब योद्धा आये हुए हैं उनमें से कोई तेरे लड़ने से इनकार करने पर भी बचनेवाला नहीं है। ३२

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इसलिए तू उठ खड़ा हो, कीर्ति प्राप्त कर, शत्रु को जीतकर धन-धान्य से भरा हुआ राज्य भोग। इन्हें मैंने पहले से ही मार रखा है। हे सव्यसाची ! तू तो केवल निमित्त रूप बन। ३३

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्यान्य योद्धाओं को मैं मार ही चुका हूं। उन्हें तू मार। डर मत, लड़। शत्रु को तू रण में जीतने को है। ३४

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

संजय ने कहा—

केशव के ये वचन सुनकर हाथ जोड़े, कांपते, बारंबार नमस्कार करते हुए, डरते-डरते प्रणाम करके मुकुटधारी अर्जुन

श्रीकृष्ण से गद्गद् कंठ से इस प्रकार बोले। ३५

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

अर्जुन बोले—

हे हृषीकेश ! आपका कीर्तन करके जगत को जो हर्ष होता है और आपके लिए जो अनुराग उत्पन्न होता है वह उचित्त ही है। भयभीत राक्षस इधर-उधर भाग रहे हैं और सिद्धों का सारा समुदाय आपको नमस्कार कर रहा है। ३६

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मन् ! ये आपको क्यों नमस्कार न करें ? आप ब्रह्मा से भी बड़े आदिकर्ता हैं। हे अनंत, हे देवेश, हे जगन्निवास ! आप अक्षर हैं, असत् हैं और इससे जो परे है वह भी आप ही हैं। ३७

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

आप आदि देव हैं। आप पुराण-पुरुष हैं। आप इस विश्व के परम आश्रयस्थान हैं। आप जाननेवाले हैं और जानने योग्य हैं। आप परमधाम हैं। हे अनंतरूप ! इस जगत में आप व्याप्त हो रहे हैं। ३८

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्र, प्रजापति, प्रपितामह आप ही हैं। आपको हजारों बार नमस्कार पहुंचे और फिर-फिर आपको नमस्कार पहुंचे। ३९

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे सर्व ! आपको आगे, पीछे, सब ओर से नमस्कार है। आप का वीर्य अनंत है, आपकी शक्ति अपार है, सब आप ही धारण करते हैं, इसलिए आप सर्व हैं। ४०

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

मित्र जानकर और आपकी यह महिमा न जानकर, 'हे कृष्ण !' 'हे यादव !' 'हे सखा !' इस प्रकार संबोधनकर मुझसे भूल में या प्रेम में भी जो अविवेक हुआ हो और विनोदार्थ खेलते, सोते, बैठते या खाते अर्थात् सोहबत में आपका जो कुछ अपमान हुआ हो उसे क्षमा करने के लिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूं। ४१-४२

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

स्थावर-जंगम जगत के आप पिता हैं। आप उसके पूज्य और श्रेष्ठ गुरु हैं। आपके समान कोई नहीं है तो आपसे अधिक तो कहां से हो सकता है? तीनों लोक में आपके सामर्थ्य का जोड़ नहीं है। ४३

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इसलिए साष्टांग नमस्कार करके आपसे, पूज्य ईश्वर से प्रसन्न होने की प्रार्थना करता हूं। हे देव! जिस तरह पिता पुत्र को, सखा सखा को सहन करता है वैसे आप मेरे प्रिय होने के कारण मेरे कल्याण के लिए मुझे सहन करने योग्य हैं। ४४

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

पहले न देखा हुआ आपका ऐसा रूप देखकर मेरे रोएं खड़े हो गए हैं और भय से मेरा मन व्याकुल हो गया है। इसलिए, हे देव! अपना पहले का रूप दिखलाइए। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइए। ४५

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

पूर्व की भांति आपका—मुकुट, गदा, चक्रधारी का दर्शन करना चाहता हूं! हे सहस्रबाहु! हे विश्वमूर्ति! अपना चतुर्भुज रूप धारण कीजिए। ४६

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्री भगवान बोले—

हे अर्जुन ! तुझपर प्रसन्न होकर तुझे मैंने अपनी शक्ति से अपना तेजोमय, विश्वव्यापी, अनंत, परम, आदि रूप दिखाया है। यह तेरे सिवा और किसीने पहले नहीं देखा है। ४७

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरुप्रवीर ! वेदाभ्यास से, यज्ञ से, अन्यान्य शास्त्रों के अध्ययन से, दान से, क्रियाओं से, या उग्र तपों से तेरे सिवा दूसरा कोई यह मेरा रूप देखने में समर्थ नहीं है। ४८

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

यह मेरा विकराल रूप देखकर तू घबरा मत, मोह में मत पड़। डर छोड़कर शांत चित्त हो और यह मेरा परिचित रूप फिर देख। ४९

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

संजय ने कहा—

यों वासुदेव ने अर्जुन से कहकर अपना रूप फिर दिखाया और फिर शांत मूर्ति धारण करके भयभीत अर्जुन को उस महात्मा ने आश्वासन दिया। ५०

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोले—

हे जनार्दन ! यह आपका सौम्य मानव स्वरूप देखकर अब मैं शांत हुआ हूं और ठिकाने आ गया हूं। ५१

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

श्रीभगवान बोले—

मेरा जो रूप तूने देखा उसके दर्शन बहुत दुर्लभ हैं। देवता भी वह रूप देखने को तरसते रहते हैं। ५२

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

जो मेरे दर्शन तूने किये हैं वह दर्शन न वेद से, न तप से, न दान से अथवा न यज्ञ से हो सकते हैं। ५३

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

परंतु हे अर्जुन ! हे परंतप ! मेरे संबंध में ऐसा ज्ञान, ऐसे मेरे दर्शन और मुझमें वास्तविक प्रवेश केवल अनन्य भक्ति से ही संभव है। ५४

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

हे पांडव ! जो सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्ति का त्याग करता है

और प्राणीमात्र में द्वेष-रहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है। ५५

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्म विद्यान्तर्गत योग शास्त्र के श्री कृष्णार्जुन-संवाद का 'विश्वरूपदर्शन-योग' नामक ग्यारहवां अध्याय।

: १२ :

भक्तियोग

पुरुषोत्तम के दर्शन अनन्य भक्ति से ही होते हैं, भगवान के इस वचन के बाद तो भक्ति का स्वरूप ही सामने आना चाहिए। यह बारहवां अध्याय सबको कंठ कर लेना चाहिए। यह छोटे-से-छोटे अध्यायों में एक है। इसमें दिए हुए भक्त के लक्षण नित्य मनन करने योग्य हैं।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुन बोले—

इस प्रकार जो भक्त आपका निरंतर ध्यान धरते हुए आपकी उपासना करते हैं और जो आपके अविनाशी अव्यक्त स्वरूप का ध्यान धरते हैं, उनमें से कौन योगी श्रेष्ठ माना जायगा? १

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

श्रीभगवान बोले—

नित्य ध्यान करते हुए, मुझमें मन लगाकर जो श्रद्धापूर्वक

मेरी उपासना करता है उसे मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूं। २

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

सब इंद्रियों को वश में रखकर, सर्वत्र समत्व का पालन करके जो दृढ़, अचल, धीर, अचिंत्य, सर्वव्यापी, अव्यक्त, अवर्णनीय, अविनाशी स्वरूप की उपासना करते हैं, वे सारे प्राणियों के हित में लगे हुए मुझे ही पाते हैं। ३-४

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

जिनका चित्त अव्यक्त में लगा हुआ है उन्हें कष्ट अधिक है। अव्यक्त गति को देहधारी कष्ट से ही पा सकता है। ५

टिप्पणी—देहधारी मनुष्य अमूर्त स्वरूप की केवल कल्पना ही कर सकता है, पर उसके पास अमूर्तस्वरूप के लिए एक भी निश्चयात्मक शब्द नहीं है, इसलिए उसे निषेधात्मक 'नेति' शब्द से संतोष करना ठहरा। इस दृष्टि से मूर्ति-पूजा का निषेध करनेवाले भी सूक्ष्म रीति से विचारा जाय तो मूर्ति-पूजक ही होते हैं। पुस्तक की पूजा करना, मंदिर में जाकर पूजा करना, एक ही दिशा में मुख रखकर पूजा करना, ये सभी साकार पूजा के लक्षण हैं। तथापि साकार के उस पार निराकार अचिंत्य स्वरूप है, इतना तो सबके समझ लेने में ही निस्तार है। भक्ति की पराकाष्ठा यह है कि भक्त भगवान में विलीन हो जाय और अंत में केवल एक अद्वितीय अरूपी भगवान ही रह जाय। पर इस स्थिति को साकार द्वारा सुलभता से पहुंचा जा सकता है, इसलिए निराकार को सीधे पहुंचने का मार्ग कष्टसाध्य बतलाया है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।७।।

परंतु हे पार्थ ! जो मुझमें परायण रहकर, सब कर्म मुझे समर्पण करके, एक निष्ठा से मेरा ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं और मुझमें जिनका चित्त पिरोया हुआ है उन्हें मृत्युरूपी संसार-सागर से मैं झटपट पार कर लेता हूं। ६-७

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।।८।।

अपना मन मुझमें लगा, अपनी बुद्धि मुझमें रख, इससे इस (जन्म) के बाद निःसंशय मुझे ही पावेगा। ८

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ।।९।।

जो तू मुझमें अपना मन स्थिर करने में असमर्थ हो तो, हे धनंजय ! अभ्यास-योग द्वारा मुझे पाने की इच्छा रखना। ९

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।।१०।।

ऐसा अभ्यास रखने में भी तू असमर्थ हो तो कर्ममात्र मुझे अर्पण कर और इस प्रकार मेरे निमित्त कर्म करते-करते भी तू मोक्ष पावेगा। १०

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।११।।

और जो मेरे निमित्त कर्म करने भर की तेरी शक्ति न हो तो यत्नपूर्वक सब कर्मों के फल का त्याग कर। ११

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासा-
ज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्याग-
स्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२।।

अभ्यास-मार्ग से ज्ञान मार्ग श्रेयस्कर है। ज्ञान-मार्ग से ध्यान-मार्ग विशेष है और ध्यान-मार्ग से कर्म-फल-त्याग श्रेष्ठ है,

क्योंकि इस त्याग के अंत में तुरंत शांति ही होती है। १२

टिप्पणी—अभ्यास अर्थात् चित्त-वृत्ति-निरोध की साधना, ज्ञान अर्थात् श्रवण-मननादि, ध्यान अर्थात् उपासना। इनके फल-स्वरूप यदि कर्म-फल-त्याग न दिखाई दे तो वह अभ्यास अभ्यास नहीं है, ज्ञान ज्ञान नहीं है और ध्यान ध्यान नहीं है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो प्राणीमात्र के प्रति द्वेषरहित, सबका मित्र, दयावान, ममतारहित, अहंकाररहित, सुख-दुःख में समान, क्षमावान, सदा संतोषी, योगयुक्त, इंद्रिय निग्रही और दृढ़निश्चयी है और मुझमें जिसने अपनी बुद्धि और मन अर्पण कर दिया है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है। १३-१४

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगों से उद्वेग नहीं पाता, जो हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या, भय, उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है। १५

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जो इच्छारहित है, पवित्र है, दक्ष (सावधान) है, तटस्थ चिंता-रहित है, संकल्पमात्र का जिसने त्याग किया है वह मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है। १६

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

जिसे हर्ष नहीं होता, जो द्वेष नहीं करता, जो चिंता नहीं करता, जो आशाएं नहीं बांधता, जो शुभाशुभ का त्याग करने वाला है, वह भक्तिपरायण मुझे प्रिय है। १७

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख—इन सब में जो समतावान है, जिसने आसक्ति छोड़ दी है, जो निंदा और स्तुति में समान भाव से बर्तता है और मौन धारण करता है, चाहे जो मिले उससे जिसे संतोष है, जिसका कोई अपना निजी स्थान नहीं है, जो स्थिर चित्तवाला है, ऐसा मुनि भक्त मुझे प्रिय है । १८-१९

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

यह पवित्र अमृतरूप ज्ञान जो मुझमें परायण रहकर श्रद्धापूर्वक सेवन करते हैं वे मेरे अतिशय प्रिय भक्त हैं । २०

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्म विद्यान्तर्गत योग-शास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन-संवाद का 'भक्तियोग' नामक बारहवां अध्याय ।

: १३ :

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

इस अध्याय में शरीर और शरीरी का भेद बतलाया है ।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

श्री भगवान बोले—

हे कौंतेय ! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और इसे जो

जानता है उसे तत्त्व ज्ञानी लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं। १

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

और हे भारत ! समस्त क्षेत्रों—शरीरों—में स्थित मुझको क्षेत्रज्ञ जान। मेरा मत है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद का ज्ञान ही ज्ञान है। २

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

यह क्षेत्र क्या है, कैसा है, कैसे विकारवाला है, कहां से है और क्षेत्रज्ञ कौन है, उसकी शक्ति क्या है, यह मुझसे संक्षेप में सुन। ३

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

विविध छंदों में, भिन्न-भिन्न प्रकार से और उदाहरण, युक्तियों द्वारा, निश्चययुक्त ब्रह्मसूचक वाक्यों में ऋषियों ने इस विषय को बहुत गाया है। ४

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

महाभूत, अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दस इंद्रियां, एक मन, पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतन शक्ति, धृति—यह अपने विकारोंसहित क्षेत्र संक्षेप में कहा है। ५-६

टिप्पणी—महाभूत पांच हैं—पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश। अहंकार अर्थात् शरीर के प्रति विद्यमान अहंता, अहंपना। अव्यक्त अर्थात् अदृश्य रहनेवाली माया, प्रकृति। दस इंद्रियों में पांच ज्ञानेंद्रियां—नाक, कान, आंख जीभ और चाम, तथा पांच कर्मेन्द्रियां—हाथ, पैर, मुंह और दो गुह्येंद्रियां। पांच गोचर अर्थात् पांच ज्ञानेंद्रियों के पांच विषय—सूंघना, सुनना,

देखना, चखना और छूना। संघात अर्थात् शरीर के तत्त्वों की परस्पर सहयोग करने की शक्ति। धृति अर्थात् धैर्यरूपी सूक्ष्म गुण नहीं, किंतु इस शरीर के परमाणुओं का एक दूसरे से सटे रहने का गुण। यह अहंभाव के कारण ही संभव है और यह अहंता अव्यक्त प्रकृति में विद्यमान है। मोहरहित मनुष्य इस अहंता का ज्ञानपूर्वक त्याग करता है और इस कारण मृत्यु के समय या दूसरे आघात से वह दुःख नहीं पाता। ज्ञानी-अज्ञानी सबको, अंत में तो, इस विकारी क्षेत्र का त्याग किये ही निस्तार है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इंद्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार-रहितता, जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख और दोषों का निरंतर भान, पुत्र, स्त्री और गृह आदि में मोह तथा ममता का अभाव, प्रिय और अप्रिय में नित्य समभाव, मुझमें अनन्य ध्यानपूर्वक एक निष्ठ भक्ति, एकांत स्थान का सेवन, जन समूह में सम्मिलित होने की अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञान की नित्यता का भान और आत्मदर्शन—यह सब ज्ञान कहलाता है। इससे जो उलटा है वह अज्ञान है। ७-८-९-१०-११

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

जिसे जाननेवाले मोक्ष पाते हैं वह ज्ञेय क्या है सो तुझसे कहूंगा। वह अनादि परब्रह्म है, वह न सत् कहा जा सकता है न असत् कहा जा सकता है। १२

टिप्पणी—परमेश्वर को सत् या असत् भी नहीं कहा जा सकता। किसी एक शब्द से उसकी व्याख्या या परिचय नहीं हो सकता, ऐसा वह गुणातीत स्वरूप है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

जहां देखो वहीं उसके हाथ, पैर, आँखें, सिर, मुंह और कान हैं। सर्वत्र व्याप्त होकर वह इस लोक में विद्यमान है। १३

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

सब इंद्रियों के गुणों का आभास उसमें मिलता है तो भी वह स्वरूप इंद्रिय-रहित और सबसे अलिप्त है तथापि सबको धारण करने वाला है। वह गुण-रहित होने पर भी गुणों का भोक्ता है। १४

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

वह भूतों के बाहर है और अंदर भी है। वह गतिमान है और स्थिर भी है। सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है। वह दूर है और समीप भी है।

टिप्पणी—जो उसे पहचानता है वह उसके अंदर है। गति और स्थिरता, शांति और अशांति हम लोग अनुभव करते हैं। और सब भाव उसीमें से उत्पन्न होते हैं, इसलिए वह गतिमान और स्थिर है। १५

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

भूतों में वह अविभक्त है और विभक्त-सरीखा भी विद्यमान है। वह जानने योग्य (ब्रह्म) प्राणियों का पालक, नाशक और कर्ता है। १६

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

ज्योतियों की भी वह ज्योति है, अंधकार से वह परे कहा जाता है। ज्ञान वही है, जानने योग्य वही है और ज्ञान से जो प्राप्त होता है वह भी वही है। वह सबके हृदय में मौजूद है। १७

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय के विषय में मैंने संक्षेप में बतलाया। इसे जानकर मेरा भक्त मेरे भाव को पाने योग्य बनता है। १८

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जान। विकार और गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान। १९

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

कार्य और कारण का हेतु प्रकृति कही जाती है और पुरुष सुख-दुःख के भोग में हेतु कहा जाता है। २०

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

प्रकृति में रहनेवाला पुरुष प्रकृति में उत्पन्न होनेवाले गुणों को भोगता है और यह गुण संग भली-बुरी योनि में उसके जन्म का कारण बनता है। २१

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

टिप्पणी—प्रकृति को हम लोग लौकिक भाषा में माया के नाम से पुकारते हैं। पुरुष जीव है। माया अर्थात् मूलस्वभाव के वशीभूत हो जीव सत्त्व, रजस् या तमस् से होनेवाले कार्यों का फल भोगता है और इससे कर्मानुसार पुनर्जन्म पाता है।

इस देह में स्थित जो परमपुरुष है वह सर्वसाक्षी, अनुमति देनेवाला, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी कहलाता है। २२

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।।२३।।

जो मनुष्य इस प्रकार पुरुष और गुणमयी प्रकृति को जानता है, वह सब प्रकार के कार्य करता हुआ भी फिर जन्म नहीं पाता। २३

टिप्पणी—२, ९, १२ और अन्यान्य अध्यायों की सहायता से हम जान सकते हैं कि यह श्लोक स्वेच्छाचार का समर्थन करने वाला नहीं है, वल्कि भक्ति की महिमा वतलानेवाला है। कर्म-मात्र जीवन के लिए बंधनकर्ता हैं, किन्तु यदि वह सब कर्म परमात्मा को अपर्ण कर दे तो वह वंधनमुक्त हो जाता है और इस प्रकार जिसमें से कर्तृत्वरूपी अहंभाव नष्ट हो गया है और जो अंतर्यामी को चौवीस घंटे पहचान रहा है वह पाप कर्म कर ही नहीं सकता। पाप का मूल ही अभिमान है। जहां 'मैं' नहीं है वहां पाप नहीं है। यह श्लोक पाप कर्म न करने की युक्ति वतलाता है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।२४।।

कोई ध्यान-मार्ग से आत्मा द्वारा आत्मा को अपने में देखता है, कितने ही ज्ञान-मार्ग से और दूसरे कितने ही कर्ममार्ग से। २४

अन्ये त्वेमवजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य: उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।।२५।।

और कोई इन मार्गों को न जानने के कारण दूसरों से

परमात्मा के विषय में सुनकर, सुने हुए पर श्रद्धा रखकर और उसमें परायण रहकर उपासना करते हैं और वे भी मृत्यु को तर जाते हैं २५

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावर जंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

जो कुछ चर या अचर वस्तु उत्पन्न होती है वह, हे भरतर्षभ ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अर्थात् प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुई जान । २६

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनिश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

समस्त नाशवान प्राणियों में अविनाशी परमेश्वर को सम-भाव से मौजूद जो जानता है वही उसका जाननेवाला है । २७

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

जो मनुष्य ईश्वर को सर्वत्र समभाव से अवस्थित देखता है वह अपने-आपका घात नहीं करता और इससे परमगति को पाता है । २८

टिप्पणी—समभाव से अवस्थित ईश्वर को देखनेवाला आप उसमें विलीन हो जाता है और अन्य कुछ नहीं देखता । इसलिए विकारवश न होकर मोक्ष पाता है; अपना शत्रु नहीं बनता ।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

सर्वत्र प्रकृति ही कर्म करती है ऐसा जो समझता है और इसीलिए आत्मा को अकर्तारूप जानता है वही जानता है । २९

टिप्पणी—कैसे, जैसे कि सोते हुए मनुष्य का आत्मा निद्रा का कर्ता नहीं है, किंतु प्रकृति निद्रा का कर्म करती है। निर्विकार मनुष्य के नेत्र कोई गंदगी नहीं देखते । प्रकृति व्यभिचारणी नहीं है । अभिमानी पुरुष जब उसका स्वामी बनता है तब उस मिलाप में से विषय-विकार उत्पन्न होते हैं ।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

जब वह जीवों का अस्तित्व पृथक् होने पर भी एक में ही स्थित देखता है और इसीलिए सारे विस्तार को उसीसे उत्पन्न हुआ समझता है तब वह ब्रह्म को पाता है। ३०

टिप्पणी—अनुभव से सबकुछ ब्रह्म में ही देखना ब्रह्म को प्राप्त करना है। उस समय जीव शिव से भिन्न नहीं रह जाता।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे कौंतेय ! यह अविनाशी परमात्मा अनादि और निर्गुण होने के कारण शरीर में रहता हुआ भी न कुछ करता और न किसीसे लिप्त होता है। ३१

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जिस प्रकार सूक्ष्म होने के कारण सर्वव्यापी आकाश लिप्त नहीं होता, वैसे सब देह में रहनेवाला आत्मा लिप्त नहीं होता। ३२

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

जैसे एक ही सूर्य इस समूचे जगत को प्रकाश देता है, वैसे हे भारत ! क्षेत्री समूचे क्षेत्र को प्रकाशित करता है। ३३

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

जो ज्ञानचक्षु द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद और प्रकृति के बंधन से प्राणियों की मुक्ति कैसे होती है यह जानता है वह ब्रह्म को पाता है। ३४

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्त-

गंत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग-योग' नामक तेरहवां अध्याय।

: १४ :

गुणत्रयविभागयोग

गुणमयी प्रकृति का थोड़ा परिचय कराने के बाद स्वभावतः तीनों गुणों का वर्णन इस अध्याय में आता है और यह करते हुए गुणातीत के लक्षण भगवान गिनाते हैं। दूसरे अध्याय में जो लक्षण स्थितप्रज्ञ के दिखाई देते हैं, बारहवें में जो भक्त के दिखाई देते हैं, वैसे इसमें गुणातीत के हैं।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

श्रीभगवान बोले—

ज्ञानों में जिस उत्तम ज्ञान का अनुभव करके सब मुनियों ने यह शरीर छोड़ने पर परम गति पाई है वह मैं तुझसे फिर कहूंगा। १

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इस ज्ञान का आश्रय लेकर जिन्होंने मेरे भाव को प्राप्त किया है उन्हें उत्पत्तिकाल में जन्मना नहीं पड़ता और प्रलय-काल में व्यथा भोगनी नहीं पड़ती। २

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

हे भारत! महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है। उसमें मैं गर्भाधान करता हूं और उससे प्राणीमात्र की उत्पत्ति होती है। ३

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

हे कौंतेय ! सब योनियों में जिन-जिन प्राणियों की उत्पत्ति होती है उनकी उत्पत्ति का स्थान मेरी प्रकृति है और उसमें बीजारोपण करनेवाला पिता—पुरुष—मैं हूं। ४

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

हे महाबाहो ? सत्त्व, रजस् और तमस् प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले गुण हैं। वे अविनाशी देहधारी—जीव—को देह के संबंध में बांधते हैं। ५

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

इनमें सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक और आरोग्यकर है, और हे अनघ ! वह देही को सुख के और ज्ञान के संबंध में बांधता है। ६

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

हे कौंतेय ! रजोगुण रागरूप होने से तृष्णा और आसक्ति का मूल है, वह देहधारी को कर्मपाश में बांधता है। ७

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

हे भारत ! तमोगुण अज्ञानमूलक है। वह देहधारी मात्र को मोह में डालता है और वह देही को असावधानी, आलस्य तथा निद्रा के पाश में बांधता है। ८

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

हे भारत ! सत्त्व आत्मा को शांतिसुख का संग कराता है, रजस् कर्म का और तमस् ज्ञान को ढककर प्रमाद का संग कराता है। ९

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

हे भारत ! जब रजस् और तमस् दबते हैं तब सत्त्व ऊपर आता है, जब सत्त्व और तमस् दबते हैं तब रजस् और जब सत्त्व तथा रजस् दबते हैं तब तमस् उभरता है। १०

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

सब इंद्रियों द्वारा इस देह में जब प्रकाश और ज्ञान का उद्भव होता है तब सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है ऐसा जानना चाहिए। ११

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

हे भरतर्षभ ! जब रजोगुण की वृद्धि होती है तब लोभ प्रवृत्ति, कर्मों का आरंभ, अशांति और इच्छा का उदय होता है। १२

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

हे कुरुनंदन ! जब तमोगुण की वृद्धि होती है तब अज्ञान, मंदता, असावधानी और मोह उत्पन्न होता है। १३

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

सत्त्वगुण की वृद्धि हुई होने पर देहधारी मरता है तो वह उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोक को पाता है। १४

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजोगुण में मृत्यु होने पर देहधारी कर्मसंगी के लोक में जन्मता है और तमोगुण में मृत्यु पानेवाला मूढ़योनि में जन्मता है। १५

टिप्पणी—कर्मसंगी से तात्पर्य है मनुष्यलोक और मूढ़योनि से तात्पर्य है पशु इत्यादि लोक।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सत्कर्म का फल सात्त्विक और निर्मल होता है। राजसी कर्म का फल दुःख होता है और तामसी कर्म का फल अज्ञान होता है। १६

टिप्पणी—जिसे हम लोग सुख-दुःख मानते हैं यहां उस सुख-दुःख का उल्लेख नहीं समझना चाहिए। सुख से मतलब है आत्मानंद, आत्मप्रकाश। इससे जो उलटा है वह दुःख है। १७वें श्लोक में यह स्पष्ट हो जाता है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सत्त्वगुण में से ज्ञान उत्पन्न होता है। रजोगुण में से लोभ और तमोगुण में से असावधानी, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है। १७

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सात्त्विक मनुष्य ऊंचे चढ़ते हैं, राजसी मध्य में रहते हैं और अंतिम गुणवाले तामसी अधोगति पाते हैं। १८

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

ज्ञानी जब ऐसा देखता है कि गुणों के सिवा और कोई कर्ता नहीं है और जो गुणों से परे है उसे जानता है तब वह मेरे भाव को पाता है। १९

टिप्पणी—गुणों को कर्त्ता माननेवाले को अहंभाव होता ही नहीं। इससे उसके सब काम स्वाभाविक और शरीर-यात्रा भर के लिए होते हैं। और शरीर-यात्रा परमार्थ के लिए ही होती है, इसलिए उसके सारे कामों में निरंतर त्याग और

वैराग्य होना चाहिए। ऐसा ज्ञानी स्वभावतः गुणों से परे निर्गुण ईश्वर की भावना करता और उसे भजता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

देह के संग से उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणों को पार करके देहधारी जन्म, मृत्यु और जरा के दुःख से छूट जाता है और मोक्ष पाता है। २०

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

अर्जुन बोले—

हे प्रभो ! इन गुणों को तर जानेवाला किन लक्षणों से पहचाना जाता है ? उसके आचार क्या होते हैं ? और वह तीनों गुणों को किस प्रकार पार करता है। २१

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

श्रीभगवान बोले—

हे पांडव ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होने पर जो दुःख नहीं मानता और इनके प्राप्त न होने पर इनकी इच्छा नहीं करता, उदासीन की भांति जो स्थिर है, जिसे गुण विच-लित नहीं करते, गुण ही अपना काम कर रहे हैं यह मानकर जो स्थिर रहता है और विचलित नहीं होता, जो सुख-दुःख में

सम रहता है, स्वस्थ रहता है, मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने को समान समझता है, प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर एक समान रहता है, ऐसा बुद्धिमान जिसे अपनी निंदा या स्तुति समान है, जिसे मान और अपमान समान है, जो मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष में समान भाव रखता है और जिसने समस्त आरंभों का त्याग कर दिया है, वह गुणातीत कहलाता है।

२२-२३-२४-२५

टिप्पणी—२२ से २५ तक के श्लोक एक साथ विचारने योग्य हैं, प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह पिछले श्लोक में कहे अनुसार क्रम से सत्त्व, रजस् और तमस् के परिणाम अथवा चिह्न हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो गुणों को पार कर गया है, उसपर उस परिणाम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पत्थर प्रकाश की इच्छा नहीं करता, न प्रवृत्ति या जड़ता का द्वेष करता है। उसे बिना चाहे शांति है, उसे कोई गति देता है तो वह उसका द्वेष नहीं करता। गति देने के बाद उसे ठहरा करके रख देता है तो इससे, प्रवृत्ति—गति बंद हो गई, मोह—जड़ता प्राप्त हुई, ऐसा सोचकर वह दुखी नहीं होता, वरन् तीनों स्थितियों में वह एक समान वर्तता है। पत्थर और गुणातीत में अंतर यह है कि गुणातीत चेतनमय है और उसने ज्ञानपूर्वक गुणों के परिणामों का—स्पर्श का त्याग किया है और जड़—पत्थर-सा बन गया है। पत्थर गुणों का अर्थात् प्रकृति के कार्यों का साक्षी है, पर कर्ता नहीं है, वैसे ज्ञानी उसका साक्षी रहता है, कर्ता नहीं रह जाता। ऐसे ज्ञानी के संबंध में यह कल्पना की जा सकती है कि वह २३वें श्लोक के कथनानुसार 'गुण अपना काम किया करते हैं' यह मानता हुआ विचलित नहीं होता और अचल रहता है, उदासीन-सा रहता है—अडिग रहता है। यह स्थिति गुणों में तन्मय हुए हम लोग धैर्यपूर्वक केवल कल्पना करके समझ सकते हैं, अनुभव नहीं कर सकते। परंतु उस कल्पना को दृष्टि में रखकर हम 'मैं' पने को दिन-दिन घटाते जायं तो अंत में गुणातीत की अवस्था

के समीप पहुंचकर उसकी झांकी कर सकते हैं। गुणातीत अपनी स्थिति का अनुभव करता है, वर्णन नहीं कर सकता। जो वर्णन कर सकता है वह गुणातीत नहीं है, क्योंकि उसमें अहंभाव मौजूद है। जिसे सब लोग सहज में अनुभव कर सकते हैं वह शांति, प्रकाश, 'धांधल'—प्रवृत्ति और जड़ता—मोह है। गीता में स्थान-स्थान पर इसे स्पष्ट किया है कि सात्त्विकता गुणातीत के समीप-से-समीप की स्थिति है इसलिए मनुष्यमात्र का प्रयत्न सत्त्वगुण के विकास करने का है। यह विश्वास रखे कि उसे गुणातीतता अवश्य प्राप्त होगी।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो एकनिष्ठ भक्तियोग द्वारा मुझे सेता है वह इन गुणों को पार करके ब्रह्मरूप बनने योग्य होता है। २६

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

और ब्रह्म की स्थिति मैं ही हूं, शाश्वत मोक्ष की स्थिति मैं हूं। वैसे ही सनातन धर्म की और उत्तम सुख की स्थिति भी मैं ही हूं। २७

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन-संवाद का 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चौदहवां अध्याय।

: १५ :

पुरुषोत्तमयोग

भगवान ने इस अध्याय में क्षर और अक्षर से परे अपना उत्तम स्वरूप समझाया है।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।१।।

श्रीभगवान बोले—

जिसका मूल ऊंचे है, जिसकी शाखा नीचे है और वेद जिसके पत्ते हैं, ऐसे अविनाशी अश्वत्थ वृक्ष का बुद्धिमान लोगों ने वर्णन किया है, इसे जो जानते हैं वे वेद के जाननेवाले ज्ञानी हैं। १

टिप्पणी—'श्वः' का अर्थ है आनेवाला कल। इसलिए अश्वत्थ का मतलब है आगामी कलतक न टिकनेवाला क्षणिक संसार। संसार का प्रतिक्षण रूपांतर हुआ करता है इससे वह अश्वत्थ है; परंतु ऐसी स्थिति में वह सदा रहनेवाला होने के कारण तथा उसका मूल ऊर्ध्व अर्थात् ईश्वर है, इस कारण वह अविनाशी है उसमें यदि वेद अर्थात् धर्म के शुद्ध ज्ञानरूपी पत्ते न हों तो वह शोभा नहीं दे सकता। इस प्रकार संसार का यथार्थ ज्ञान जिसे है और जो धर्म को जाननेवाला है वह ज्ञानी है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।।२।।

गुणों के स्पर्श द्वारा बढ़ी हुई और विषयरूपी कोंपलोंवाली उस अश्वत्थ की डालियां नीचे-ऊपर फैली हुई हैं; कर्मों का बंधन करनेवाली उसकी जड़ें मनुष्य-लोक में नीचे फैली हुई हैं। २

टिप्पणी—यह संसार-वृक्ष का अज्ञानी की दृष्टिवाला वर्णन है। उसके ऊंचे ईश्वर में रहनेवाले मूल को वह नहीं देखता, बल्कि विषयों की रमणीयता पर मुग्ध रहकर, तीनों गुणों द्वारा इस वृक्ष का पोषण करता है और मनुष्यलोक में कर्म-पाश में बंधा हुआ रहता है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

उसका यथार्थ स्वरूप देखने में नहीं आता। उसका अंत नहीं है, आदि नहीं है, नींव नहीं है। खूब गहराई तक गई हुई जड़ोंवाले इस अश्वत्थ वृक्ष को असंगरूपी बलवान शस्त्र से काट-कर मनुष्य यह प्रार्थना करे—

'जिसने सनातन प्रवृत्ति—माया—को फैलाया है उस आदि पुरुष की मैं शरण जाता हूं।' और उस पद को खोजे जिसे पानेवाले को पुनः जन्म-मरण के फेर में पड़ना नहीं पड़ता। ३-४

टिप्पणी—असंग से मतलब है असहयोग, वैराग्य। जबतक मनुष्य विषयों से असहयोग न करे, उनके प्रलोभनों से दूर न रहे तबतक वह उनमें फंसता ही रहेगा। इस श्लोक का आशय यह है कि विषयों के साथ खेल खेलना और उनसे अछूता रहना यह अनहोनी बात है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

जिसने मान-मोह का त्याग किया है, जिसने आसक्ति से होनेवाले दोषों को दूर किया है, जो आत्मा में नित्य निमग्न है, जिसके विषय शांत हो गये हैं, जो सुख-दुःखरूपी द्वंद्वों से मुक्त है वह ज्ञानी अविनाशी पद को पाता है। ५

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

वहां सूर्य को, चंद्र को या अग्नि को प्रकाश नहीं देना पड़ता। जहां जानेवाले को फिर जन्मना नहीं पड़ता, वह मेरा परमधाम है। ६

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

मेरा ही सनातन अंश जीवलोक में जीव होकर प्रकृति में रहनेवाली पांच इंद्रियों को और मन को आकर्षित करता है। ७

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

(जीव बना हुआ यह मेरा अंशरूपी) ईश्वर जब शरीर धारण करता है या छोड़ता है तब यह उसी तरह (मन के साथ इंद्रियों को) साथ ले जाता है। जैसे वायु आस-पास के मंडल में से गंध ले जाता है। ८

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

और वह कान, आंख, त्वचा, जीभ, नाक और मन का आश्रय लेकर विषयों का सेवन करता है। ९

टिप्पणी—यहां 'विषय' शब्द का अर्थ बीभत्स विलास नहीं है, बल्कि प्रत्येक इंद्रिय की स्वाभाविक क्रिया है, जैसे आंख का विषय है देखना, कान का सुनना, जीभ का चखना। ये क्रियाएं जब विकारवाली, अहंभाववाली होती हैं तब दूषित-बीभत्स ठहरती हैं। जब निर्विकार होती हैं तब वे निर्दोष हैं। बच्चा आंख से देखता या हाथ से छूता हुआ विकार नहीं पाता, इसलिए नीचे के श्लोक में कहते हैं—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

(शरीर का) त्याग करनेवाले या उसमें रहनेवाले अथवा

गुणों का आश्रय लेकर भोग भोगनेवाले को (इस अंशरूपी ईश्वर को), मूर्ख नहीं देखते, किंतु दिव्यचक्षु ज्ञानी देखते हैं। १०

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

यत्न करते हुए योगीजन अपने में स्थित (इस ईश्वर) को देखते हैं। जिन्होंने आत्म-शुद्धि नहीं की है, ऐसे मूढ़जन यत्न करते हुए भी इसे नहीं पहचानते। ११

टिप्पणी—इसमें और नवें अध्याय में दुराचारी को भगवान ने जो वचन दिया है उसमें विरोध नहीं है। अकृतात्मा से तात्पर्य है भक्तिहीन। स्वेच्छाचारी, दुराचारी जो नम्रतापूर्वक श्रद्धा से ईश्वर को भजता है वह आत्मशुद्ध हो जाता है और ईश्वर को पहचानता है। जो यम-नियमादि की परवाह न कर केवल बुद्धि-प्रयोग से ईश्वर को पहचानना चाहते हैं, वे अचेता—चित्त से रहित, राम से रहित, राम को नहीं पहचान सकते।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

सूर्य में विद्यमान जो तेज समूचे जगत को प्रकाशित करता है और जो तेज चंद्र में तथा अग्नि में विद्यमान है, वह मेरा है, ऐसा जान। १२

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से मैं प्राणियों को धारण करता हूं और रसों को उत्पन्न करनेवाला चंद्र बनकर समस्त वनस्पतियों का पोषण करता हूं। १३

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

प्राणियों के शरीर का आश्रय लेकर जठराग्नि होकर प्राण और अपान वायु के द्वारा मैं चार प्रकार का अन्न

पचाता हूं। १४

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

सबके हृदय में अधिष्ठित मेरे द्वारा स्मृति, ज्ञान और उनका अभाव होता है। समस्त वेदों द्वारा जानने योग्य मैं ही हूं, वेदों का जाननेवाला मैं हूं, वेदांत का प्रकट करनेवाला भी मैं ही हूं। १५

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

इस लोक में क्षर अर्थात् नाशवान और अक्षर अर्थात् अविनाशी दो पुरुष हैं। भूतमात्र क्षर हैं और उनमें जो स्थिर रहनेवाला अंतर्यामी है वह अक्षर कहलाता है। १६

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

इसके सिवा उत्तम पुरुष और है। वह परमात्मा कहलाता है। यह अव्यय ईश्वर तीनों लोक में प्रवेश करके उनका पोषण करता है। १७

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्योंकि मैं क्षर से पर और अक्षर से भी उत्तम हूं, इसलिए वेदों और लोकों में पुरुषोत्तम नाम से प्रख्यात हूं। १८

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे भारत ! मोहरहित होकर मुझ पुरुषोत्तम को इस प्रकार जो जानता है वह सब जानता है और मुझे पूर्णभाव से भजता है। १९

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे अनघ ! यह गुह्य-से-गुह्य शास्त्र मैंने तुझसे कहा। हे भारत ! इसे जानकर मनुष्य को चाहिए कि वह बुद्धिमान बने और अपना जीवन सफल करे। २०

ॐ तत्सत्

इस श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'पुरुषोत्तमयोग' नामक पंद्रहवां अध्याय।

: १६ :

दैवासुरसंपद्विभागयोग

इस अध्याय में दैवी और आसुरी संपद् का वर्णन है।

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

श्रीभगवान बोले—

हे भारत ! अभय, अंतःकरण की शुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, अपैशुन, भूतदया, अलोलुपता, मृदुता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, निरभिमान—इतने गुण उसमें होते हैं जो दैवी संपत् को लेकर जन्मा है। १-२-३

टिप्पणी—दम अर्थात् इंद्रियनिग्रह, अपैशुन अर्थात् किसी-की चुगली न करना, अलोलुपता अर्थात् लालसा न रखना—लंपट न होना, तेज अर्थात् प्रत्येक प्रकार की हीन-वृत्ति का विरोध करने का जोश, अद्रोह अर्थात् किसी का बुरा न चाहना या करना।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान, हे पार्थ! इतने आसुरी संपत् लेकर जन्मनेवालों में होते हैं। ४

टिप्पणी—जो अपने में नहीं है वह दिखाना दंभ है, ढोंग है, पाखंड है। दर्प यानी बड़ाई, पारुष्य का अर्थ है कठोरता।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी संपत् मोक्ष देनेवाली और आसुरी (संपत्) बंधन में डालनेवाली मानी गई है। हे पांडव! तू विषाद मत कर। तू दैवी संपत् लेकर जन्मा है। ५

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

इस लोक में दो प्रकार की सृष्टि है—दैवी और आसुरी। हे पार्थ! दैवी का विस्तार से वर्णन किया गया। आसुरी का (अब) सुन। ६

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

आसुर लोग यह नहीं जानते कि वृत्ति क्या है, निवृत्ति क्या है। वैसे ही उन्हें शौच का, आचार का और सत्य का भान नहीं है। ७

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

वे कहते हैं, जगत असत्य, निराधार और ईश्वररहित है।

केवल नर-मादा के संबंध से हुआ है। उसमें विषय-भोग के सिवा और क्या हेतु हो सकता है? ८

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

भयंकर काम करनेवाले, मंदमति, दुष्टगण इस अभिप्राय को पकड़े हुए जगत के शत्रु, उसके नाश के लिए उत्पन्न होते हैं। ९

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

तृप्त न होनेवाली कामनाओं से भरपूर, दंभी, मानी, मदांध, अशुभ निश्चयवाले मोह से दुष्ट इच्छाएं ग्रहण करके प्रवृत्त होते हैं। १०

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

प्रलयपर्यंत अंत ही न होनेवाली ऐसी अपरिमित चिंता का आश्रय लेकर, कामों के परमभोगी, 'भोग ही सर्वस्व है', ऐसा निश्चय करनेवाले, सैकड़ों आशाओं के जाल में फंसे हुए, कामी, क्रोधी, विषय-भोग के लिए अन्यायपूर्वक धन-संचय की चाह रखते हैं। ११-१२

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि
कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य
इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

आज मैंने यह पाया, यह मनोरथ (अब) पूरा करूंगा, इतना धन मेरे पास है, फिर कल इतना और मेरा हो जायगा, इस शत्रु को तो मारा, दूसरे को भी मारूंगा, मैं सर्वसंपन्न हूं भोगी हूं, सिद्ध हूं, वलवान हूं, सुखी हूं, मैं श्रीमान हूं, कुलीन हूं, मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, मौज करूंगा—अज्ञान से मूढ़ हुए लोग ऐसा मानते हैं और अनेक भ्रांतियों में पड़े, मोहजाल में फंसे, विषयभोग में मस्त हुए अशुभ नरक में गिरते हैं। १३-१४-१५-१६

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अपने को बड़ा माननेवाले, अकड़बाज, धन तथा मान के मद में मस्त हुए (ये लोग) दंभ से और विधिरहित नाममात्र के ही यज्ञ करते हैं। १७

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोध का आश्रय लेनेवाले, निंदा करनेवाले और उनमें तथा दूसरों में रहनेवाला जो मैं, उसका वे द्वेष करनेवाले हैं। १८

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

इन नीच, द्वेषी, क्रूर अमंगल नराधमों को मैं इस संसार की अत्यंत आसुरी योनि में ही बारबार डालता हूं। १९

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

हे कौंतेय ! जन्म-जन्म आसुरी योनि को पाकर और मुझे न पाने से मूढ़ लोग इससे भी अधिक अधम गति पाते हैं। २०

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

आत्मा का नाश करनेवाले नरक के ये त्रिविध द्वार हैं—काम, क्रोध और लोभ। इसलिए इन तीन का मनुष्य को त्याग करना चाहिए। २१

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे कौंतेय ! इस त्रिविध नरकद्वार से दूर रहनेवाला मनुष्य आत्मा के कल्याण का आचरण करता है और इससे परम गति को पाता है। २२

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़कर स्वेच्छा से भोगों में लीन होता है वह न सिद्धि पाता है, न सुख पाता है, न परमगति पाता है। २३

टिप्पणी—शास्त्रविधि का अर्थ धर्म के नाम से माने जानेवाले ग्रंथों में बतलाई हुई अनेक क्रियाएं नहीं, बल्कि अनुभव-ज्ञानवाले सत्पुरुषों का अनुभव किया हुआ संयम-मार्ग है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इसलिए कार्य और अकार्य का निर्णय करने में तुझे शास्त्र को प्रमाण मानना चहिए। शास्त्र-विधि क्या है, यह जानकर यहां तुझे कर्म करना उचित है। २४

टिप्पणी—जो ऊपर बतलाया जा चुका है, शास्त्र का वही अर्थ यहां भी है। सबको निज-निज के नियम बनाकर स्वेच्छाचारी न बनना चाहिए, बल्कि धर्म के अनुभवी के वाक्य को प्रमाण मानना चाहिए, यह इस श्लोक का आशय है।

ॐतत्सत्

इति श्रीमद्‌भगवद्‌गीता रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्त-

गंत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'दैवासुरसंपद्विभाग-योग' नामक सोलहवां अध्याय ।

: १७ :

श्रद्धात्रयविभागयोग

शास्त्र अर्थात् शिष्टाचार को प्रमाण मानना चाहिए, यह सुनकर अर्जुन को शंका हुई कि जो शिष्टाचार को न मान सके, पर श्रद्धापूर्वक आचरण करे उसकी कैसी गति होती है । इस अध्याय में इसका उत्तर देने का प्रयत्न है, परंतु शिष्टाचाररूपी दीपस्तंभ छोड़ देने के बाद की श्रद्धा में भयों की संभावना बतलाकर भगवान ने संतोष माना है । इसलिए श्रद्धा और उसके आधार पर होनेवाले यज्ञ, तप, दान आदि के गुणानुसार तीन भाग करके दिखाये हैं और 'ॐ तत्सत्' की महिमा गाई है ।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! शास्त्रविधि अर्थात् शिष्टाचार की परवा न कर जो केवल श्रद्धा से ही पूजादि करते हैं उनकी गति कैसी होती है ?—सात्त्विक, राजसी व तामसी ? १

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

श्री भगवान बोले—

मनुष्य में स्वभाव से ही तीन प्रकार की श्रद्धा अर्थात् सात्त्विक, राजसी और तामसी होती है, वह तू सुन । २

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।३।।

हे भारत ! सबकी श्रद्धा अपने स्वभाव का अनुसरण करती है। मनुष्य में कुछ-न-कुछ श्रद्धा तो होती ही है। जैसी जिसकी श्रद्धा, वैसा वह होता है। ३

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।।४।।

सात्त्विक लोग देवताओं को भजते हैं, राजस लोग यक्षों और राक्षसों को भजते हैं और दूसरे तामस लोग भूतप्रेतादि को भजते हैं। ४

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।।५।।
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।।६।।

दंभ और अहंकारवाले, काम और राग के बल से प्रेरित जो लोग शास्त्रीय विधि से रहित घोर तप करते हैं, वे मूढ़ लोग शरीर में स्थित पंच महाभूतों को और अन्तःकरण में विद्यमान मुझको भी कष्ट देते हैं। ऐसों को आसुरी निश्चयवाला जान। ५-६

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ।।७।।

आहार भी तीन प्रकार से प्रिय होता है। उसी प्रकार यज्ञ, तप और दान (भी तीन प्रकार से प्रिय होता) है। उनका यह भेद तू सुन। ७

आयुःसत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।८।।

आयुष्य, सात्त्विकता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ाने

वाले, रसदार, चिकने पौष्टिक और मन को रुचिकर आहार सात्त्विक लोगों को प्रिय होते हैं। ८

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, चरपरे, रूखे, दाहकारक आहार राजस लोगों को प्रिय होते हैं और वे दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं। ९

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

पहर भर से पड़ा हुआ, नीरस, दुर्गंधित, बासी, जूठा, अपवित्र भोजन तामस लोगों को प्रिय होता है। १०

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

जिसमें फल की इच्छा नहीं है, जो विधिपूर्वक कर्तव्य समझकर, मन को उसमें पिरोकर होता है वह यज्ञ सात्त्विक है। ११

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो फल के उद्देश्य से और दंभ से होता है उस यज्ञ को राजसी जान। १२

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

जिसमें विधि नहीं है, अन्न की उत्पत्ति नहीं है, मंत्र नहीं है, त्याग नहीं है, श्रद्धा नहीं है, उस यज्ञ को बुद्धिमान लोग तामस यज्ञ कहते हैं। १३

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा—यह शारीरिक तप कहलाता है। १४

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

दुःख न देनेवाला, सत्य, प्रिय, हितकर वचन तथा धर्मग्रंथों का अभ्यास—यह वाचिक तप कहलाता है। १५

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मसंयम, भावना-शुद्धि यह मानसिक तप कहलाता है। १६

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

समभावयुक्त पुरुष जब फलेच्छा का त्याग करके परम श्रद्धापूर्वक यह तीन प्रकार का तप करते हैं तब उसे बुद्धिमान लोग सात्त्विक तप कहते हैं। १७

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

जो सत्कार, मान और पूजा के लिए दंभपूर्वक होता है वह अस्थिर और अनिश्चत तप, राजस कहलाता है। १८

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

जो तप कष्ट उठाकर, दुराग्रहपूर्वक अथवा दूसरे के नाश के लिए होता है वह तामस तप कहलाता है। १९

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

देना उचित है ऐसा समझकर, बदला मिलने की आशा के बिना देश, काल और पात्र को देखकर जो दान होता है उसे सात्त्विक दान कहा है। २०

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो दान बदला मिलने के लिए अथवा फल को लक्ष्य कर

और दुःख के साथ दिया जाता है वह राजसी दान कहा गया है। २१

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

देश, काल और पात्र का विचार किये बिना, बिना मान का, तिरस्कार से दिया हुआ दान तामसी कहलाता है। २२

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।।२३।।

ब्रह्म का वर्णन'ॐ तत्सत्' इस तरह तीन प्रकार से हुआ हैं और इसके द्वारा पूर्वकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुए। २३

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।।२४।।

इसलिए ब्रह्मवादी 'ॐ' का उच्चारण करके यज्ञ, दान और तपरूपी क्रियाएं सदा विधवत् करते हैं। २४

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाःक्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ।।२५।।

और मोक्षार्थी 'तत्' का उच्चारण करके फल की आशा रख बिना यज्ञ, तप और दानरूपी विविध क्रियाएं करते हैं। २५

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।।२६।।

सत्य और कल्याण के अर्थ में 'सत्' शब्द का प्रयोग होता है। और हे पार्थ! भले कामों में भी 'सत्' शब्द व्यवहृत होता है। २६

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।२७।।

यज्ञ, तप और दान में दृढ़ता को भी सत् कहते हैं। तत् के निमित्त ही कर्म है, ऐसा संकल्प भी सत् कहलाता है। २७

टिप्पणी—उपर्युक्त तीन श्लोकों का भावार्थ यह हुआ कि प्रत्येक कर्म ईश्वरार्पण करके ही करना चाहिए, क्योंकि ओम ही सत् है, सत्य है। उसे अर्पण किया हुआ ही फलता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे पार्थ! जो यज्ञ, दान, तप, या दूसरा कार्य बिना श्रद्धा के होता है वह असत् कहलाता है। वह तो न यहां के काम का है, न परलोक के। २८

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का श्रद्धात्रयविभागयोग, नामक सत्रहवां अध्याय।

: १८ :

संन्यासयोग

इस अध्याय को उपसंहाररूप मानना चाहिए। इस अध्याय का या गीता का प्रेरक मन्त्र यह कहा जा सकता है—'सब धर्मों को तजकर मेरी शरण ले।' यह सच्चा संन्यास है, परंतु सब धर्मों के त्याग का मतलब सब कर्मों का त्याग नहीं है। परोपकार के कर्मों में भी जो सर्वोत्कृष्ट कर्म हों उन्हें उसे अर्पण करना और फलेच्छा का त्याग करना, यह सर्वधर्मत्याग या संन्यास है।

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! संन्यास और त्याग का पृथक्-पृथक् रहस्य मैं जानना चाहता हूं। १

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

काम्य (कामना से उत्पन्न हुए) कर्मों के त्याग को ज्ञानी संन्यास के नाम से जानते हैं। समस्त कर्मों के फल के त्याग को बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं। २

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

कितने ही विचारवान पुरुष कहते हैं कि कर्ममात्र दोषमय होने के कारण त्यागने योग्य हैं। दूसरों का कथन है कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। ३

निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

हे भरतसत्तम ! इस त्याग के विषय के मेरा निर्णय सुन। हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग का तीन प्रकार से वर्णन किया गया है। ४

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्याज्य नहीं है वरन् करने योग्य हैं। यज्ञ, दान और तप विवेकी को पावन करनेवाले हैं। ५

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

हे पार्थ ! ये कर्म भी आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करके करने चाहिए, ऐसा मेरा निश्चत उत्तम अभिप्राय है। ६

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

नियत कर्म का त्याग उचित नहीं है। मोह के वश होकर उसका त्याग किया जाय तो वह त्याग तामस माना जाता है। ७

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

दुःखकारक समझकर कायाकष्ट के भय से जो कर्म का त्याग करता है वह राजस त्याग है और इससे उसे त्याग का फल नहीं मिलता है । ८

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

हे अर्जुन ! 'करना चाहिए' ऐसा समझकर जो नियत कर्म संग और फल को त्यागकर किया जाता है वह त्याग ही सात्त्विक माना गया है । ९

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

संशयरहित हुआ, शुद्ध भावनावाला,त्यागी और बुद्धिमान असुविधाजनक कर्म का द्वेष नहीं करता, सुविधावाले में लीन नहीं होता । १०

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

कर्म का सर्वथा त्याग देहधारी के लिए संभव नहीं है; परंतु जो कर्म-फल का त्याग करता है वह त्यागी कहलाता है । ११

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

त्याग न करनेवाले के कर्म का फल कालांतर में तीन प्रकार का होता है। अशुभ, शुभ और शुभाशुभ। जो त्यागी (संन्यासी) है उसे कभी नहीं होता। १२

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे महाबाहो! कर्ममात्र की सिद्धि के विषय में सांख्यशास्त्र में पांच कारण कहे गये हैं। वे मुझसे जान । १३

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

वे पांच ये हैं—क्षेत्र, कर्ता, भिन्न-भिन्न साधन, भिन्न-भिन्न क्रियाएं और पांचवां दैव । १४

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

शरीर, वाचा अथवा मन से जो कोई भी कर्म मनुष्य नीति-सम्मत या नीतिविरुद्ध करता है उसके ये पांच कारण होते हैं। १५

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

ऐसा होने पर भी, असंस्कारी बुद्धि के कारण जो अपने को ही कर्ता मानता है वह दुर्मति कुछ समझता नहीं है । १६

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

जिसमें अहंकार भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, वह इस जगत को मारते हुए भी नहीं मरता, न बंधन में पड़ता है। १७

टिप्पणी—ऊपर-ऊपर से पढ़ने पर यह श्लोक मनुष्य को भुलावे में डालनेवाला है। गीता के अनेक श्लोक काल्पनिक आदर्श का अवलंबन करनेवाले हैं। उसका सच्चा नमूना जगत में नहीं मिल सकता और उपयोग के लिए भी जिस तरह रेखा-गणित में काल्पनिक आदर्श आकृतियों की आवश्यकता है उसी तरह धर्म-व्यवहार के लिए है। इसीलिए इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—जिसकी अहंता नष्ट हो गई है और जिसकी बुद्धि में लेशमात्र भी मैल नहीं है, उसके लिए कह सकते हैं कि वह भले ही सारे जगत को मार डाले; परंतु जिसमें अहंता नहीं है उसे शरीर ही नहीं है। जिसकी बुद्धि विशुद्ध है वह त्रिकालदर्शी है। ऐसा पुरुष तो केवल एक भगवान है। वह

करते हुए भी अकर्ता है, मारते हुए भी अहिंसक है। इससे मनुष्य के सामने तो एक न मारने का और शिष्टाचार—शास्त्र—का ही मार्ग है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

कर्म की प्रेरणा में तीन तत्त्व विद्यमान हैं—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता। कर्म के अंग तीन प्रकार के होते हैं—इंद्रियां, क्रिया और कर्ता। १८

टिप्पणी—इसमें विचार और आचार का समीकरण है। पहले मनुष्य कर्त्तव्य कर्म (ज्ञेय), उसकी विधि (ज्ञान) को जानता है—परिज्ञाता बनता है। इस कर्मप्रेरणा के प्रकार के बाद वह इंद्रियों (करण) द्वारा क्रिया का कर्ता बनता है। यह कर्मसंग्रह है।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

ज्ञान, कर्म और कर्ता गुणभेद के अनुसार तीन प्रकार के हैं। गुणगणना में उनका जैसा वर्णन किया जाता है वैसा सुन। १९

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

जिसके द्वारा मनुष्य समस्त भूतों में एक ही अविनाशी भाव को और विविधता में एकता को देखता है उसे सात्त्विक ज्ञान जान। २०

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं
नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु
तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

भिन्न-भिन्न (देखने में) होने के कारण समस्त भूतों में जिसके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न विभक्त भावों को देखता है

उस ज्ञान को राजस जान। २१

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जिसके द्वारा एक ही कार्य में बिना किसी कारण के सब आ जाने का भास होता है, जो रहस्यरहित और तुच्छ है वह तामस ज्ञान कहलाता है। २२

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

फलेच्छारहित पुरुष का आसक्ति और राग-द्वेष के बिना किया हुआ नियत कर्म सात्त्विक कहलाता है। २३

टिप्पणी—(देखो, टिप्पणी अध्याय ३-८)

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

भोग की इच्छा रखनेवाले जिस कार्य को 'मैं करता हूं', इस भाव से बड़े आयासपूर्वक करते हैं वह राजस कहलाता है। २४

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

मनुष्य जो काम परिणाम का, हानि का, हिंसा का और अपनी शक्ति का विचार किये बिना, मोह के वश होकर आरंभ करता है वह तामस कर्म कहलाता है। २५

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी
धृत्युत्साहसमन्वितः
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः
कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

जो आसक्ति और अहंकाररहित है, जिसमें दृढ़ता और उत्साह है, जो सफलता-निष्फलता में हर्ष-शोक नहीं करता है वह सात्त्विक कर्ता कहलाता है। २६

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितःकर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

जो रागी है, जो कर्मफल की इच्छावाला है, लोभी है, हिंसावान है, हर्ष और शोकवाला है, वह राजस कर्ता कहलाता है। २७

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

जो अव्यवस्थित, असंस्कारी, झक्की, झूठ, नीच, आलसी, अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री है, वह तामस कर्ता कहलाता है। २८

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

हे धनंजय ! बुद्धि और धृति के गुण के अनुसार पूरे और पृथक्-पृथक् तीन प्रकार कहता हूं, उन्हें सुन। २९

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बंधन, मोक्ष का भेद जो बुद्धि (उचित रीति से) जानती है वह सात्त्विक बुद्धि है। ३०

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

जो बुद्धि धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य का विवेक गलत ढंग से करती है, वह बुद्धि, हे पार्थ ! राजसी है। ३१

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे पार्थ! जो बुद्धि अंधकार से घिरी हुई है, अधर्म को धर्म मानती है और सब बातें उलटी ही देखती है वह तामसी है। ३२

धृत्या यया धारयते
मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।

योगेनाव्यभिचारिण्या
धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

हे पार्थ ! जिस एकनिष्ठ धृति से मनुष्य मन, प्राण और इंद्रियों की क्रिया को साम्यबुद्धि से धारण करता है, वह धृति सात्त्विक है। ३३

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

हे पार्थ ! जिस धृति से मनुष्य फलाकांक्षी होकर धर्म, काम और अर्थ को असक्तिपूर्वक धारण करता है वह धृति राजसी है। ३४

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

जिस धृति से दुर्बुद्धि मनुष्य निद्रा, भय, शोक, निराशा और मद को छोड़ नहीं सकता, हे पार्थ ! वह तामसी धृति है। ३५

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

हे भरतर्षभ ! अब तीन प्रकार के सुख का वर्णन मुझसे सुन। जिसके अभ्यास से मनुष्य प्रसन्न रहता है, जिससे दुःख का अंत होता है, जो आरंभ में विषसमान लगता है, परिणाम में अमृत-जैसा होता है, जो आत्म-ज्ञान की प्रसन्नता में से उत्पन्न होता है, वह सात्त्विक सुख कहलाता है। ३६-३७

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

विषय और इंद्रियों के संयोग से जो आरंभ में अमृत समान लगता है पर परिणाम में विष समान होता है, वह सुख राजस कहा गया है। ३८

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

जो आरंभ में और परिणाम में आत्मा को मोहग्रस्त करने वाला और निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद में से उत्पन्न हुआ है, वह तामस सुख कहलाता है। ३९

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथ्वी में या देवताओं के मध्य स्वर्ग में ऐसा कुछ भी नहीं है जो प्रकृति में उत्पन्न हुए इन तीन गुणों से मुक्त हो। ४०

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्मों के भी उनके स्वभाजन्य गुणों के कारण विभाग हो गये हैं। ४१

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शम, दम, तप, शोच क्षमा, सरलता ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता—ये ब्राह्मण के स्वभावजन्य कर्म हैं। ४२

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में पीठ न दिखाना, दान, शासन—ये क्षत्रिय के स्वभावजन्य कर्म है। ४३

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती, गोरक्षा, व्यापार—ये वैश्य के स्वभावजन्य कर्म हैं। और शूद्र का स्वभावजन्य कर्म सेवा है। ४४

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

स्वयं अपने कर्म में रत रहकर पुरुष मोक्ष पाता है। अपने कर्म में रत हुआ मनुष्य किस प्रकार मोक्ष पाता है, सो सुन। ४५

यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव: ।।४६।।

जिसके द्वारा प्राणियों की प्रवृत्ति होती है और जिसके द्वारा यह सारे-का-सारा व्याप्त है उसे जो पुरुष स्वकर्म द्वारा भजता है वह मोक्ष पाता है। ४६

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।४७।।

परधर्म सुकर होने पर भी उससे विगुण स्वधर्म अधिक अच्छा है। स्वभाव के अनुरूप कर्म करनेवाले मनुष्य को पाप नहीं लगता है। ४७

टिप्पणी—स्वधर्म अर्थात् अपना कर्त्तव्य। गीता की शिक्षा का मध्यबिंदु कर्मफल त्याग है और स्वकर्म की अपेक्षा अधिक उत्तम कर्त्तव्य खोजने पर फल त्याग के लिए स्थान नहीं रहता, इसलिए स्वधर्म को श्रेष्ठ कहा है। सब धर्मों का फल उसके पालन में आ जाता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ।।४८।।

हे कौंतेय ! स्वभावत: प्राप्त कर्म, सदोष होने पर भी छोड़ना न चाहिए। जिस प्रकार अग्नि के साथ धुएं का संयोग है उसी प्रकार सब कामों के साथ दोष मौजूद है। ४८

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृह:।
नैष्कर्म्यसिद्धि परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।४९।।

जिसने सब कहीं से आसक्ति को खींच लिया है, जिसने कामनाओं को त्याग दिया है, जिसने मन को जीत लिया है, वह संन्यास द्वारा निष्कामता रूपी परम सिद्धि पाता है। ४९

सिद्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।।५०।।

हे कौंतेय ! सिद्धि प्राप्त होने पर मनुष्य ब्रह्म को किस प्रकार पाता है, सो मुझसे संक्षेप में सुन। ज्ञान की पराकष्ठा

वही है। ५०

बुद्ध्य विशुद्धया युक्तो
धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा
रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गई है, ऐसा योगी दृढ़ता पूर्वक अपने को वश में करके, शब्दादि विषयों का त्यागकर, राग-द्वेष को जीतकर, एकांत सेवन करके, अल्पाहार करके, वाचा, काया और मन को अंकुश में रखकर, ध्यान-योग में नित्यपरायण रहकर, वैराग्य का आश्रय लेकर, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह को त्यागकर, ममता रहित और शांत होकर ब्रह्मभाव को पाने योग्य बनता है। ५१-५२-५३

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्मभाव को प्राप्त प्रसन्नचित मनुष्य न तो शोक करता है, न कुछ चाहता है। भूतमात्र में समभाव रखकर मेरी परमभक्ति को पाता है। ५४

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

मैं कैसा और कौन हूं इसे भक्ति द्वारा वह यथार्थ जानता है और इस प्रकार मुझे यथार्थ जानकर मुझमें प्रवेश करता है। ५५

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

मेरा अश्रय ग्रहण करनेवाला सदा सब कर्म करता हुआ भी

मेरी कृपा से शाश्वत, अव्ययपद को पाता है। ५६

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

मन से सब कर्मों को मुझमें अर्पण करके मुझमें परायण होकर, विवेक-बुद्धि का आश्रय लेकर निरंतर मुझमें चित्त लगा। ५७

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

मुझमें चित्त लगाने पर कठिनाइयों के समस्त पहाड़ को मेरी कृपा से पार कर जाएगा, किंतु यदि अहँकार के वश होकर मेरी न सुनेगा तो नाश हो जायगा। ५८

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

अहंकार के वश होकर 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' ऐसा तू मानता हो तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है। तेरा स्वभाव ही तुझे उस तरफ से बलात्कार से घसीट ले जायगा। ५९

स्वभावजेन कौन्तेय
निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्
करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

हे कौंतेय ! अपने स्वभावजन्य कर्म से बद्ध होने के कारण तू जो मोह के वश होकर नहीं करना चाहता, वह बरबस करेगा। ६०

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन, तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में बास करता है और अपनी माया के बल से उन्हें चाक पर चढ़े हुए घड़े की तरह घुमाता है। ६१

तमेव शरणं गच्छ
सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्ति
स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत ! सर्वभाव से तू उसकी शरण ले। उसकी कृपा से परम शांतिमय अमर पद को पावेगा। ६२

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस प्रकार गुह्य-से-गुह्य ज्ञान मैंने तुझसे कहा। इस सारे का भलीभांति विचार करके तुझे जो अच्छा लगे सो कर। ६३

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

और सबसे भी गुह्य ऐसा मेरा परमवचन सुन। तू मुझे बहुत प्रिय है, इसलिए मैं तुझसे तेरा हित कहूंगा। ६४

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

मुझसे लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिए यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर। तू मुझे ही प्राप्त करेगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है। ६५

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सब धर्मों का त्याग करके एक मेरी ही शरण ले ! मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूंगा। शोक मत कर। ६६

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना। ६७

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

परंतु यह परम गुह्यज्ञान जो मेरे भक्तों को देगा वह मेरी परम भक्ति के कारण निसंस्देह मुझे ही पावेगा । ६८

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

उसकी अपेक्षा मनुष्यों में मेरा कोई अधिक प्रिय सेवक नहीं है और पृथ्वी में उसकी अपेक्षा मुझे कोई अधिक प्रिय होने-वाला भी नहीं है । ६९

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

हमारे इस धर्म्यसंवाद का जो अभ्यास करेगा, वह मुझे यज्ञ द्वारा भजेगा, ऐसा मेरा मत है । ७०

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तःशुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

और जो मनुष्य द्वेष-रहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्यवान जहां बसते हैं उस शुभ लोक को पावेगा । ७१

टिप्पणी—इसमें तात्पर्य यह है कि जिसने इस ज्ञान का अनुभव किया है वही इसे दूसरे को दे सकता है। शुद्ध उच्चा-रण करके अर्थसहित सुना जानेवालों के विषय में ये दोनों श्लोक नहीं है ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

हे पार्थ ! यह तूने एकाग्रचित्त से सुना ? हे धनंजय ! इस अज्ञान के कारण जो मोह तुझे हुआ था वह क्या नष्ट हो गया । ७२

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुन बोले—

हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह-नाश हो गया है। मुझे समझ आ गई है, शंका का समाधान हो जाने से मैं स्वस्थ हो गया हूं। आपका कहा करूंगा। ७३

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

इस प्रकार वासुदेव और महात्मा अर्जुन का यह रोमांचित करनेवाला संवाद मैंने सुना। ७४

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

व्यासजी की कृपा से योगेश्वर श्रीकृष्ण के श्रीमुख से मैंने यह गुह्य परम योग सुना। ७५

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन् ! केशव और अर्जुन के इस अद्भुत और पवित्र संवाद का स्मरण कर-करके, मैं बारंबार आनंदित होता हूं। ७६

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महाराजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

हे राजन् ! हरि के उस अद्भुत रूप का खूब स्मरण कर-करके मैं बहुत विस्मित होता हूं और बारंबार आनंदित होता रहता हूं। ७७

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

जहां योगेश्वर कृष्ण हैं, जहां धनुर्धारी पार्थ है, वहां श्री

है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है, ऐसा मेरा अभिप्राय है। ७८

टिप्पणी—योगेश्वर कृष्ण से तात्पर्य है अनुभव सिद्ध शुद्ध ज्ञान और धनुर्धारी अर्जुन से अभिप्राय है तदनुसारिणी क्रिया, इन दोनों का संगम जहां हो, वहां संजय ने जो कहा है उसके सिवा दूसरा क्या परिणाम हो सकता है ?

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गतयोगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'संन्यासयोग' नामक अठारहवां अध्याय।

ॐ शान्ति

○
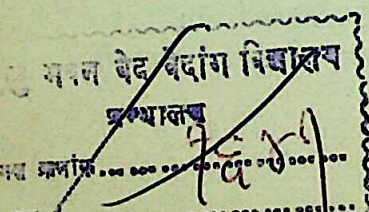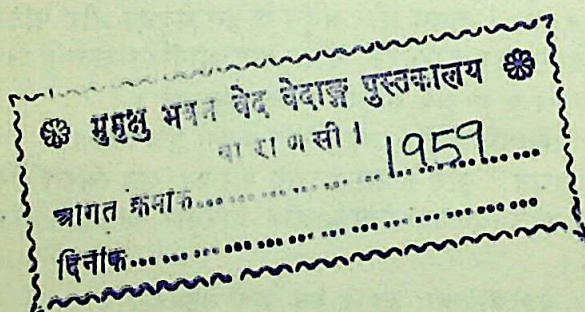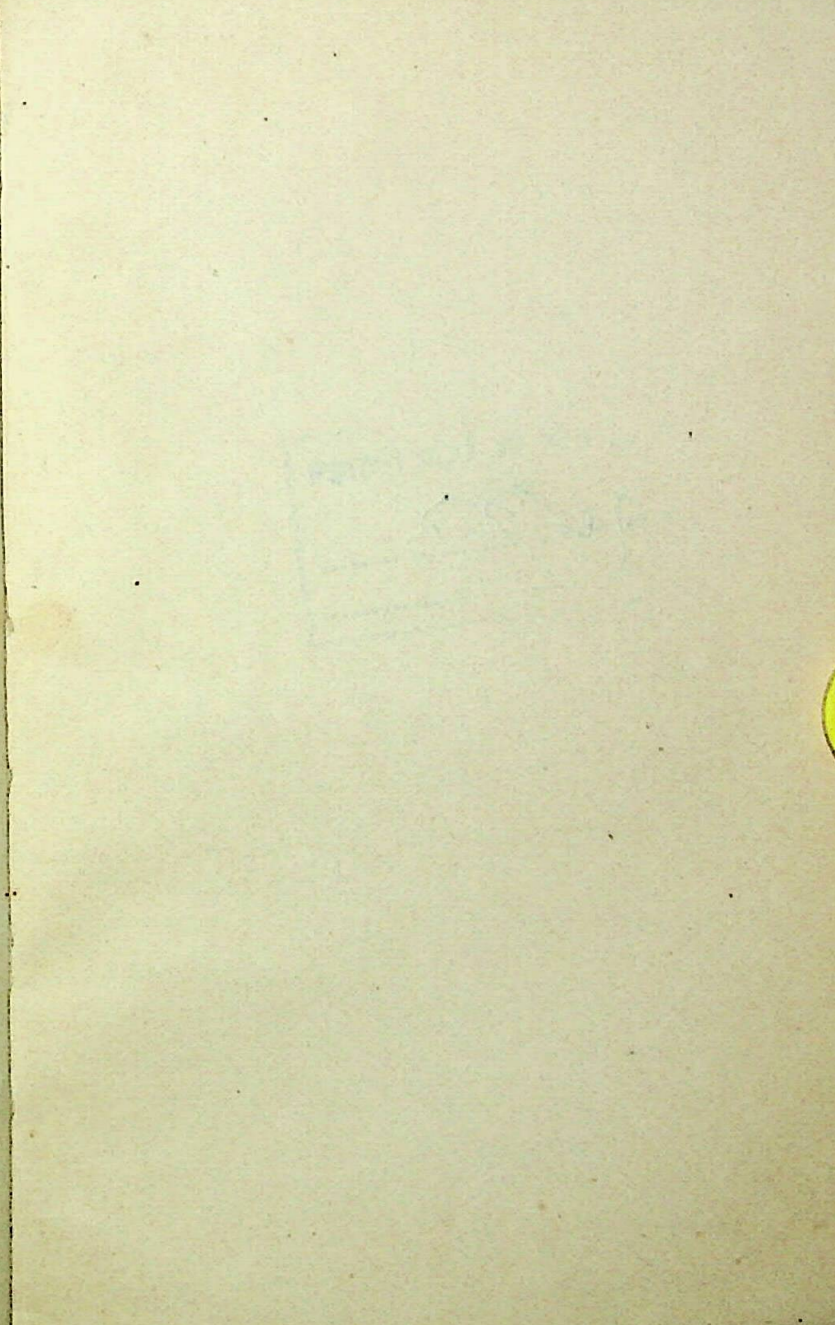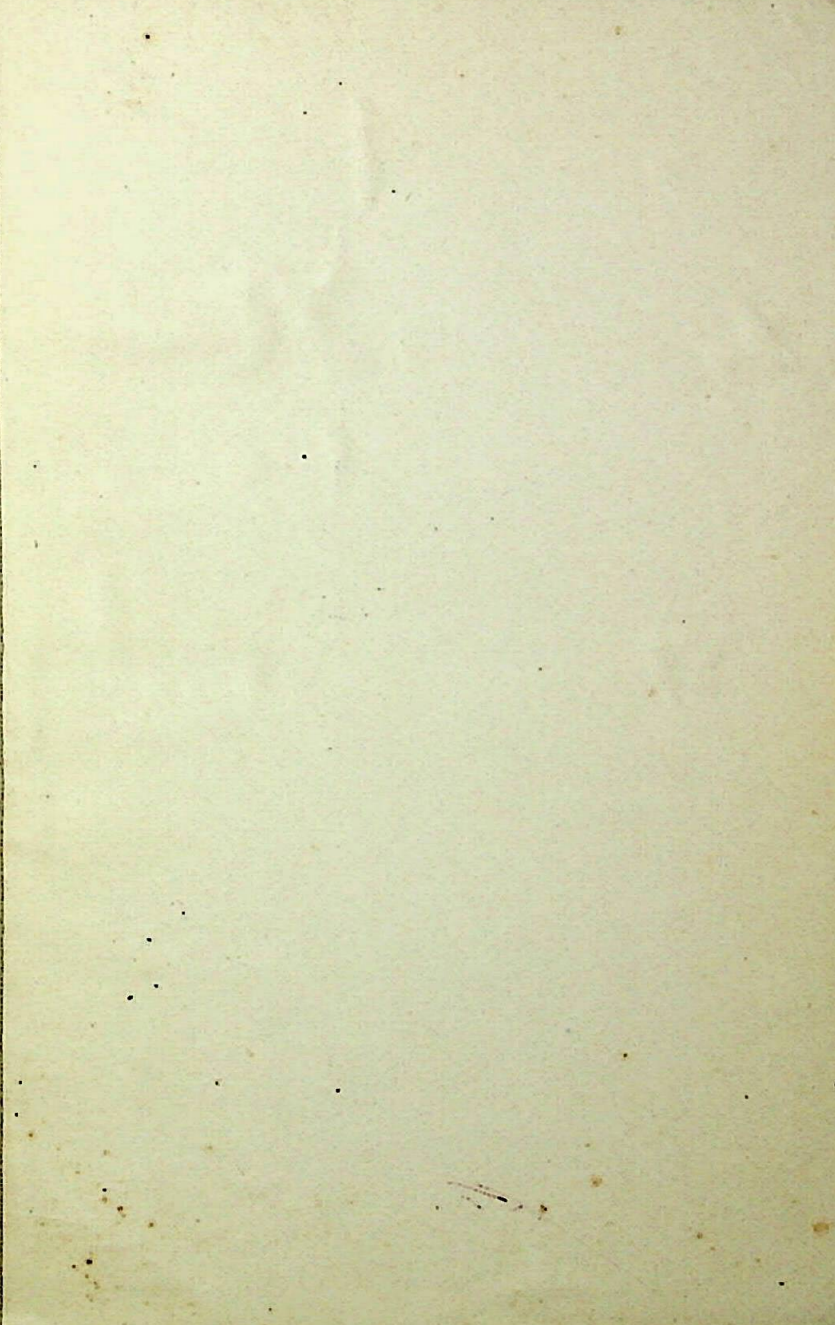
मंडल का

आध्यात्मिक साहित्य

१. गीता माता
२. अनासक्ति-योग
३. गीता-बोध
४. गीता-पदार्थकोश
५. गीता की महिमा
६. भागवत कथा
७. भगवद्गीता
८. भागवत धर्म
९. विष्णु-सहस्रनाम
१०. बुद्ध-वाणी
११. श्रीअरविंद का जीवन दर्शन
१२. रामायणकालीन संस्कृति
१३. रामायण के पात्र (भाग १-२)
१४. भारत सावित्री (खंड १, २, ३)
१५. तुलसी -रामकथा माला (चार भाग)